भारत की अर्थनीति :

गांधीवादी रूपरेखा

चौधरी चरणसिंह

अखिल भारतीय किसान सम्मेलन

प्रकाशक

'अखिल भारतीय किसान सम्मेलन'

विट्ठल भाई पटेल भवन, रफी मार्ग, नई दिल्ली

दूरभाष : 383866

© चौधरी चरणसिंह, नई दिल्ली, 1979

मूल्य 2 रुपये

मुद्रक

[illegible] प्रिन्टर्ज, ओखला इन्डस्ट्रियल स्टेट, नई दिल्ली

भूमिका

मैंने जनता पार्टी के सामने एक विस्तृत परिपत्र रखा था जिसमें मोटे तौर पर बताया था कि मेरी समझ में पार्टी की अर्थनीति क्या होनी चाहिए, उसकी क्या रूपरेखा हो, उसके क्या मूल तत्व हों। इस नीति के मुख्य संघटकों के लिए मैं मौलिकता का दावा नहीं करता। मेरी ईमानदारी के साथ यह कोशिश थी—भले ही इसमें कुछ कमियां रह गयी हों—कि पार्टी की नीति की व्याख्या महात्मा गांधी के विचारों के अनुसार की जाय। महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में बार-बार कहा था और गहराई में जाकर बहुत कुछ लिखा था। सच तो यह है कि स्वतन्त्र भारत की आर्थिक नीति के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर तो गांधीजी बहुत विस्तार से व ब्यौरेवार लिख गये हैं। यह हमारा दुर्भाग्य था कि हमने एक राष्ट्र के नाते उनकी पूरी तरह उपेक्षा की और उस महान आत्मा को देवता का स्थान देकर, लेकिन उसके व्यावहारिक मार्गदर्शन को ताक पर रखकर हम अपने को व संसार को धोखा देते रहे। हम उनका जबानी गुणगान करके ही सन्तुष्ट होते रहे।

और किसी क्षेत्र में हमने इतनी पूर्णता से गांधी का परित्याग नहीं किया जितना स्वतन्त्रता के बाद अपनी अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना में। आर्थिक संकट गहरा होता जा रहा था, यह 1950 के बाद के दस वर्षों में ही साफ़ नजर आने लगा था। फिर भी हमने आंखें खोलकर यह नहीं देखा कि हम क्या ग़लती कर रहे हैं। सचेत करने वाले सभी संकेतों को नजरअन्दाज कर दिया गया। हमने गांधीवादी दृष्टिकोण को तो छोड़ा ही, साथ ही आर्थिक विकास के लिए एक ऐसे मार्ग को डटकर अपना लिया जो पूर्णतया पराया था। इससे हमारी और भी दुर्गति हो गयी।

चारों ओर से हमें घेरते हुए आर्थिक संकट का एक ही नतीजा निकलना था। वह एक नीचतम राजनीतिक संकट के रूप में प्रस्फुटित हुआ और फिर हमें भुगतने पड़े आपात-स्थिति के काले दिन और उन्नीस महीनों के भयानक अनुभव।

जनता ने एक होकर अपनी इच्छा व इरादे की मज़बूती से इस राजनीतिक संकट का हल ढूंढा। जनता पार्टी उसी इच्छा व इरादे की मज़बूती से पैदा हुई। मार्च व जून 1977 में हुए ऐतिहासिक चुनावों ने निर्णायक ढंग से यह सिद्ध कर दिया कि जनता पार्टी को चुनकर लोगों ने राजनीतिक संकट को हल करने के लिए एक कारगर अस्त्र चुना। लेकिन भारत की वर्तमान समस्याओं का हर विद्यार्थी जानता है कि राजनीतिक संकट तो उस गहरे आर्थिक संकट की ही अभिव्यक्ति था जो पिछले दो दशकों से अधिक से हमारे समाज में बढ़ता जा रहा था। लोगों ने राजनीतिक संकट का हल निकाला कांग्रेस पार्टी व उसके नेतृत्व का क़रीब-क़रीब पूरी तरह से परित्याग करके। उसी तरह से आर्थिक समस्याओं का हल भी उन आर्थिक नीतियों का लगभग उतना ही सम्पूर्ण प्रति-करण करके ढूंढा जा सकता है जो कांग्रेस शासन-काल में चलायी जा रही थीं। लोगों ने जनता पार्टी को वोट देकर उसे राजनीतिक सत्ता इसलिए दी कि उसके नेताओं ने सार्वजनिक रूप से देश के राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए गांधी को अपना प्रेरक माना था और बार-बार कहा था कि वे उनके मार्ग पर चलेंगे। मेरा विनम्र निवेदन है कि आर्थिक समस्याओं के हल के लिए भी उसी मार्ग पर चलने के अलावा हमारे सामने और कोई चारा नहीं है।

हमारी अर्थनीति के ढांचे की गांधीवादी रूपरेखा इस अर्थ में क्रान्तिकारी है कि उसमें जनता को व जनता की अपने-आपको अपने प्रयत्नों से जनतन्त्रीय ढंग से ऊपर उठाने की क्षमता को ही हर काम का, हर क़दम का केन्द्रीय बिन्दु बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। अन्ततोगत्वा गांधी की दृष्टि में महत्व न रुपये का था न मशीन का, महत्व था केवल इंसान का। कृषि को दी गयी प्राथमिकता, दस्तकारी व लघु-उद्योग को दी गयी प्रमुखता, विकेन्द्रीकरण व आत्मनिर्भरता पर दिया गया बल, अर्थव्यवस्था चलाने में वर्तमान स्थिति में राज्य-यंत्र की न्यूनतम सम्भव भूमिका—इन सबका एक ही उद्देश्य है और वह यह है कि इस मौलिक सिद्धान्त को व्यावहारिक वास्तविकता बना दिया जाय कि जनतन्त्र जनता द्वारा जनता के लिए जनता का ही शासन है।

यह हाल के भारतीय इतिहास का निर्विवाद तथ्य है कि डेढ़ दशक से अधिक तक स्वतन्त्र भारत की अर्थनीतियों के निर्धारण व कार्यान्वयन में जवाहरलाल ने जिन्हें गांधी ने अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी नामज़द किया था, सर्वोच्च भूमिका अदा की। जो काम जहां नेहरू ने छोड़ा था उसे वहीं से आगे बढ़ाया उनके उत्तराधिकारियों ने, विशेष रूप से उनकी पुत्री इन्दिरा गांधी ने। यद्यपि इन्दिरा गांधी ने अपने पिता द्वारा विकसित किये गये मौलिक मूल्यों की व्यवस्था में कुछ गम्भीर दोष उत्पन्न कर दिये लेकिन उन्होंने मोटे तौर से जो आर्थिक ढांचा नेहरू छोड़ गये थे वही जारी रखा व उसे मज़बूत बनाया।

जिस दिशा में व जिस मार्ग पर भारतीय अर्थव्यवस्था को ले जाया गया, वह उस मार्ग का लगभग सम्पूर्ण परित्याग था जिसकी गांधी ने कल्पना की थी। इसलिए 'गांधी की दिशा में' जाने के लिए अनुरोध किया जायगा तो अवश्यमेव आर्थिक विकास की उस नीति की आलोचना होगी जो नेहरू के संचालनकाल में बनी। लेकिन मेरा विनम्र निवेदन है कि नेहरू के दृष्टिकोण की आलोचना है तो आवश्यक पर उसे सही परिवेश में समझना चाहिए और उस आलोचना का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि हमारी स्वतन्त्रता के रचनाकाल में नेहरू के चिरस्मरणीय योगदान को कम करने या घटाने की कोशिश की जा रही है।

इतिहास प्राय: निर्मम अभियोजक होता है। उसके निर्णय को भावनाएं कभी प्रभावित नहीं करतीं। इतिहास के मूलभूत उद्देश्यों में से एक है आने वाली पीढ़ियों को अपने सबक़ सिखाना। यदि हम भावुकता के कारण इतिहास से सही सबक़ न सीख सके तो न केवल अपने प्रति झूठे होंगे बल्कि अपने पूर्वजों के प्रति भी, उनकी स्मृति के प्रति भी, उनके उस योगदान के प्रति भी जिसे हम अनश्वर मानते हैं, जिससे हमें लगाव है।

मैंने भारत की आर्थिक समस्याओं के लिए गांधीवादी विकल्प उपस्थित करते हुए वाग्युद्ध की, या तर्क-वितर्क की भावना से कुछ नहीं लिखा है। मेरा यह इरादा नहीं है कि मैं भारत की उपलब्धियों को तुच्छ बताऊं। मुझे बहुत सन्तोष होगा यदि मैंने नीति की जो रूपरेखा सुझायी है उस पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार-विमर्श हो। मेरी रूपरेखा में बहुत कमज़ोरियां होंगी लेकिन वाद-विवाद से ही मोटे तौर पर आम राय बनेगी कि हम जो इस विश्व में दूसरे जनसंख्या-बहुल राष्ट्र हैं, कैसे अपनी अत्यधिक आवश्यक आर्थिक व मानवीय समस्याओं को हल करने के महान कार्य को पूरा करें।

चरणसिंह

क्रम

भूमिका 5
1. आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका 11
2. खेतिहर संरचना 20
3. श्रम, पूंजी व नवीनीकरण 38
4. गांवों व खेती की उपेक्षा के कारण 56
5. औद्योगिक अभिरचना 63
6. समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था 72
7. विदेशी ऋण व सहयोग 78
8. निजी क्षेत्र व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण 84
9. दोहरी अर्थव्यवस्था 92
10. एक नीति-विकल्प 103
11. उपसंहार 132
अनुक्रमणिका 138

1

आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका

भारत एक अल्प-विकसित देश है—बेहद ग़रीबी का शिकार। ग़रीबी का अर्थ है उन चीज़ों का अभाव जिनसे जिन्दा रहने के लिए मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं—चाहे ये चीजें खेतों में पैदा हों या दूसरे क्षेत्रों में तैयार हों। इन सभी चीज़ों का मूल स्रोत भूमि है। भूमि से ही वह खाद्य पदार्थ उपजते हैं जिनका मनुष्य सेवन करता है और भूमि पर ही वह कच्चा माल पैदा होता है जिससे कृषीतर माल का उत्पादन होता है, और यह माल भी मनुष्य के उपयोग में आता है।

दूसरे शब्दों में, सारी आबादी के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करने के साथ-साथ कृषि को कपड़ा मिलों, तेल की मिलों, चावल की मिलों, चटकलों, चीनी के कारखानों, वनस्पति की मिलों और तम्बाकू के कारखानों जैसे उपभोक्ता उद्योगों को बराबर चलाते रहने के लिए निरन्तर अधिक-से-अधिक मात्रा में कच्चा माल मुहैय्या करना होता है—और कृषि का अर्थ है भूमि का उपयोग व प्रयोग। इसी प्रकार जंगलों व पशुओं से जिनका पालन-पोषण भूमि ही करती है, मनुष्य को इमारती लकड़ी, गोंद, रेसिन, खालें व हड्डियाँ इत्यादि विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं—और इन वस्तुओं से असंख्य उद्योग चलते हैं। इसके अतिरिक्त खानों व खदानों से, भूमि में से पत्थर, कोयला, तेल, लोहा अन्य धातु व खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं।

दुर्भाग्य से जो भारत लगभग 1925 तक खाद्यान्नों का निवल निर्यात करता था, (1943 के) बंगाल दुर्भिक्ष के बाद से वह उनका आयात करने लगा है। 1970 तक के बीस वर्ष में खाद्य-सामग्री के आयात पर हमें औसतन 207.8 करोड़ रुपया प्रतिवर्ष खर्च करना पड़ा है। और 1970 के बाद के पाँच वर्षों में अर्थात

1971-76 में इस मद में खर्च बढ़कर 441.14 करोड़ वार्षिक हो गया। 1974, 1975 तथा 1976 के तीन वर्षों की अवधि में ही 187,96,000 मीट्रिक टन खाद्यान्न का आयात किया गया, जिसका मूल्य 2,503 करोड़ रुपए हुआ। (इसमें 461 करोड़ रुपये किराया भी सम्मिलित है।)

इसमें भारत-अमेरिकी समझौते, विश्व खाद्य कार्यक्रम, केयर इत्यादि के समान कार्यक्रमों के अन्तर्गत उपहार के रूप में प्राप्त खाद्य सम्मिलित नहीं है। 1965-67 के दो वर्षों के दौरान 45,76,000 मीटरी टन गेहूं भेंट के रूप में मिला। 1975 में केवल कनाडा से 37.8 करोड़ रुपये मूल्य का 2,50,000 मीटरी टन गेहूं भेंट में मिला। हमें केवल खाद्यान्न ही नहीं, कृषि से प्राप्त होने वाले कच्चे माल का भी आयात करना पड़ा—मिसाल के लिए, कपड़ा, भोजन के बाद मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है, उसके उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चा माल भी हमें मंगाना पड़ा। 1971-72 तक विश्व मण्डी में लम्बे रेशे की कपास के मुख्य खरीदारों में भारत की गिनती होती थी।

1974, 1975, 1976 और 1977 के वर्षों में खाद्य-पदार्थों का आयात

हजार मी. टन में मात्रा
लाख रुपये में भाड़े सहित अनुमानित मूल्य

वर्ष	मात्रा	भाड़ा सहित मूल्य
1974	4874.4	46304.3
1975	7406.7	105789.7
1976	6514.8	98223.5
1977	554.6	7815.6
Total	19350.5	258133.1
1974, 1975 तथा 1976 के तीन वर्षों का योग- योग	18795.9	250317.5

विकासोन्मुख कृषि से उत्पन्न अतिरिक्त खाद्य-पदार्थ व कच्चा माल हमें विदेशी मुद्रा कमाने में बहुत मदद दे सकते हैं और इस विदेशी मुद्रा से हम औद्योगिक विकास के लिए पूंजीगत माल का आयात कर सकते है—ऐसे पूंजीगत माल का जिसकी आवश्यकता हर देश को होती है चाहे उसकी अर्थव्यवस्था कैसी भी हो, भले ही वह गांधी की विचारधारा के अनुकूल हो। कनाडा ने अपने उद्योगों का निर्माण इमारती लकड़ी का निर्यात करके किया था और जापान ने रेशम का निर्यात करके।

सत्तारूढ़ दल ने यद्यपि कृषि की उपेक्षा की, फिर भी 1974-75 तक में हमारे देश से निर्यात हुए मुख्य माल का पूरा दो-तिहाई ऐसा माल था जो कृषि की उपज था—कच्ची उपज तथा प्रक्रमणित माल मिलाकर। कृषि में मत्स्य, वन तथा पशुपालन क्षेत्र के उत्पाद शामिल हैं। उस वर्ष हमारे देश से निर्यात हुए माल का 79 प्रतिशत ऐसा माल था जिसे हमारे यहां का मुख्य निर्यात-माल कहा जाता है और शेष 21 प्रतिशत ऐसा निर्यात था जिसे छोटा-मोटा समझना चाहिए। इस छोटे-मोटे निर्यात में कृषि व कृषीतर दोनों क्षेत्रों का ही माल था। और, 79 प्रतिशत मुख्य निर्यात में से 52 प्रतिशत कृषि का उत्पाद था। 1950-51 में मुख्य निर्यात 77 प्रतिशत में से 75 प्रतिशत कृषि का उत्पाद था और छोटा-मोटा निर्यात 23 प्रतिशत था।

इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास भी तभी हो सकता है जब कृषि में समृद्धि हो या बहुत हुआ तो दोनों साथ-साथ हो सकते हैं। लेकिन औद्योगिक विकास पहले हो, बाद को कृषि में खुशहाली आये—यह नहीं हो सकता। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि जिस राजनीतिक दल ने देश पर तीस वर्ष तक शासन किया उसकी नेताशाही समझती थी, और शायद अभी तक समझती है, कि औद्योगिक विकास पहले हो सकता है। जब कृषक के पास क्रय-शक्ति हो तभी औद्योगिक व कृषीतर क्षेत्र के माल व सेवाओं (जैसे शिक्षा, परिवहन, विद्युत) की मांग पैदा हो सकती है। क्रय-शक्ति कृषि की उपज बेचकर ही उत्पन्न हो सकती है—चाहे बिक्री देश में हो चाहे देश के बाहर। जितना अधिक बिक्री के लिए अतिरिक्त उत्पादन होगा, उतनी ही बेचने वाले अथवा कृषि के उत्पादक की क्रय-शक्ति बढ़ेगी। जहां जनसाधारण की क्रय-शक्ति नहीं बढ़ती, अर्थात् जहां कृषकों के उपभोग से अधिक अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता, वहां कोई औद्योगिक संवृद्धि नहीं हो सकती।

कृषि विकास से एक ओर तो जन-समुदाय को क्रय-शक्ति मिलेगी जिससे वह तैयार माल व सेवाएं खरीद सके, दूसरी ओर कामगारों को अवसर मिलेगा कि वे औद्योगिक तथा अन्य रोजगार कर सकें। जैसे-जैसे अधिकाधिक पूंजी लगने तथा उच्च से उच्चतम टैकनॉलॉजी के प्रयोग से प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ेगी, वैसे-वैसे उतनी ही भूमि पर उतनी ही उपज के लिए कामगारों की संख्या की आवश्यकता कम होती जायगी।

इसके अतिरिक्त छोटी-छोटी व अलाभकर जोतों के मालिक अधिक आय वाले कामों की तलाश में नये औद्योगिक क्षेत्रों की ओर प्रवास करेंगे तो धीरे-धीरे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी कि छोटी-छोटी जोतों की संख्या बढ़ना रुक जाय और अन्ततः ऐसी जोतें लुप्त हो जायें। यहां पर यह स्मरण रखना होगा कि 1970-71 की कृषि गणना के अनुसार 50.6 प्रतिशत किसानों के पास एक हेक्टेयर अर्थात 2.5 एकड़ से भी कम भूमि थी। यह उन्हीं के हित

में होगा कि ये तथा दूसरे अलाभकर जोतवाले भूमिधर कुटीर तथा छोटे उद्योगों को मुख्य या सहायक व्यवसाय के रूप में अपना लें। जब तक कृषि से कामगारों को छुटकारा नहीं मिलता ताकि वे कृषीतर रोजगार में लग सकें तब तक देश में न तो आर्थिक विकास हो सकता है, न गरीबी मिट सकती है। इसके कारण सीधे-सादे हैं। ऐसे पदार्थ कम हैं जिनको कृषि अथवा प्राथमिक क्षेत्र में पैदा किया जाता है और जिनको उसी कच्ची शक्ल में उपभोक्ता इस्तेमाल कर सके—जैसे फल, दूध आदि। कृषि अथवा प्राथमिक क्षेत्र में जो कुछ उत्पादन होता है उसमें अधिकांश ऐसा होता है जिसें कृषीतर (द्वितीय व तृतीय) क्षेत्रों में प्रक्रमणित करके ही सभ्य मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लायक बनाया जा सकता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कृषीतर (द्वितीय व तृतीय) क्षेत्रों में, अर्थात् कृषि-उत्पादों के प्रक्रमण व कृषीतर वस्तुओं के उत्पादन और सेवाओं में लगे व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक वह देश सम्पन्न होगा और उतना ही ऊँचा वहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर होगा।

आँकड़ों के अध्ययन से पता चलता है कि उन सभी देशों में जो आज समृद्ध हैं या आर्थिक दृष्टि से विकसित हैं, कामगार अधिकाधिक संख्या में कृषि को छोड़कर अन्य रोजगारों में लगते जा रहे हैं। नतीजा यह है कि कृषि में लगे कामगारों की संख्या का प्रतिशत बराबर घटता जा रहा है। आगामी पृष्ठों पर दी गयी तालिका में भारत व पन्द्रह अन्य देशों के श्रमिक-बल के आँकड़े दिये गए हैं। पाठक इसे समझ जायेंगे कि जैसे-जैसे कृषि-श्रमिकों की संख्या में धीरे-धीरे कमी होती है और परिणामस्वरूप उद्योग तथा दूसरी सेवा'में लगे लोगों की संख्या में उसी प्रकार वृद्धि होती है। अत: जन्मसंख्या में वृद्धि होने पर भी प्रति व्यक्ति आय या लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि होती है।

कुछ देशों के प्राथमिक अथवा कृषि-क्षेत्र में लगे श्रमिक-बल के भाग तथा प्रति व्यक्ति आय में विविधता

देश	वर्ष	कृषि में लगे श्रमिक-बल का प्रतिशत	प्रति व्यक्ति आय	
			वर्ष	डालर
1	2	3	4	5
अमेरिका	1890	43.1	1884-93	355
	1910	32.0	1904-13	508
	1930	22.6	1930	648
	1950	11.6	1950	1,064
	1965	5.1	1965	2,921
आस्ट्रेलिया	1891	26.5	1891	405
	1911	24.8	1913-14	414
	1933	24.7	1933-34	441

	1947	16.8	1947-48	664
	1966	8.1	1966	1,747
ग्रेट ब्रिटेन	1871	15.0	1871	330
(इसमें आयर-	1891	10.4	1891	453
लैंड शामिल	1911	7.8	1911	519
नहीं है)	1951	4.5	1951	597
	1966	2.7	1966	1,544
बेलजियम	1890	18.2	1895	219
	1910	17.6	1913	314
	1930	13.6	1930	324
	1947	10.9	1947	481
	1967	4.3	1967	1,593
कनाडा	1901	43.6	1900	408
	1931	32.6	1931	432
	1951	18.7	1951	834
	1968	8.2	1968	2,247

1	2	3	4	5
न्यूजीलैण्ड	1901	29.6	1901	334
	1921	27.3	1925-26	590
	1945	20.1	1945-46	739
	1966	11.9	1966	1,750
फ्रांस	1901	33.1	1900	231
	1921	28.5	1921	348
	1931	24.5	1931	363
	1951	20.2	1951	509
	1954	19.8	1954	812
नीदरलैण्ड्स	1899	28.5	1900	329
	1920	21.1	1920	366
	1947	16.8	1947	434
जर्मनी	1882	35.5	1883	206
	1907	23.8	1907	298
	1925	17.8	1925	274
	1933	16.9	1933	295
पश्चिमी जर्मनी	1950	11.8	1950	360
	1967	4.9	1967	1,519
डेनमार्क	1901	42.4	1903	481
	1921	31.7	1921	493
	1940	23.6	1940	545
	1960	16.4	1960	1,049
नार्वे	1890	45.2	1891	145
	1910	37.5	1913	229

	1930	34.0	1930	463
	1960	18.8	1960	964
जापान	1912	48.0	1913	146
	1930	36.2	1930	189
	1950	32.6	1950	194
	1960	18.9	1960	343
	1965	13.7	1965	721

1	2	3	4	5
इटली	1901	48.9	1901	132
	1921	46.5	1921	146
	1936	40.3	1936	168
	1951	34.9	1951	250
	1967	17.7	1967	1,075
स्विटज़रलैण्ड	1900	27.0	1899	245
	1920	21.7	1924	346
	1941	19.9	1941	414
	1950	15.4	1950	638
	1960	10.4	1970	2,963
स्वीडन	1910	40.8	1910	252
	1930	30.5	1930	358
	1950	19.3	1950	625
				(रुपयों में)
भारत	1881	74.4	1880	197
	1901	76.1	1900	199
	1951	77.4	1950	253
	1961	73.5	1961-62	309.2
	1971	72.05	1970-71	353.0

स्रोत (भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के लिए) :

1. 1952 तक के आँकड़ों के लिए कोलिन क्लार्क लिखित कण्डीशन्स ऑफ़ इकनॉमिक प्रोग्रेस (1957 का संस्करण), 1952 के बाद के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के आई० एल० ओ० इयर बुक ऑफ़ लेबर स्टैटिस्टिक्स, 1961, 1966 और 1968 तथा यू० एन० स्टैटिस्टिकल इयर बुक, 1962
2. 1952 तक प्रति व्यक्ति आय आई० यू० (इण्टरनेशनल यूनिट) के अनुसार दी गयी है जो कि 1924-34 के दशक में अमेरिका में एक डालर के बदले में दिये जाने वाले माल के औसत के बराबर है। 1952 के बाद यह डालर के चालू मूल्य में दी गयी है।

स्रोत (भारत के लिए) :

1. 1881, 1901, 1951 और 1961 के लिए साइमन कुज़नेत्स कृत **इकनॉमिक ग्रोथ ऑफ़ नेशन्स**, हारवर्ड यूनिवर्सिटी, 1971; और 1971 के लिए **इण्डियाज सेन्सस रिपोर्ट**, 1971
2. 1955 तक प्रति व्यक्ति आय 1948-49 की क़ीमतों पर (या 1948-49 में रुपये की क्रय-शक्ति के मूल्य के आधार पर) दी गयी हैं और मोनी मुखर्जी की पुस्तक **नेशनल इनकम ऑफ़ इण्डिया : ट्रैण्ड्स एण्ड स्ट्रक्चर**, स्टैटिस्टिकल पब्लिशिंग सोसाइटी, कलकत्ता, पृ० 61 से ली गयी है।

   1961-62 की प्रति व्यक्ति आय के आंकड़े 1960-61 की क़ीमतों पर आधारित हैं और **नेशनल एकाउण्ट्स स्टैटिस्टिक्स**, सी० एस० ओ० जी/आई, 1976 (अक्तूबर), तालिका 1, पृ० 2-3 से लिये गये हैं।

अगर हम चाहते हैं कि हमारा देश विकसित हो तो दो ही नुस्खे हैं—पहला, प्रति एकड़ कृषि उत्पादकता बढ़े और साथ-साथ प्रति एकड़ काम करने वालों की संख्या घटे; दूसरा, हमारे राष्ट्रीय मनोभाव में इस अर्थ में परिवर्तन आये कि हम, विशेष रूप से हिन्दू, यह मानना छोड़ दें कि संसार तो माया है और व्यक्तिगत रूप से तथा एक राष्ट्र के नाते हमारे मन में यह आकांक्षा उत्पन्न हो जाय कि हमें अपनी आर्थिक स्थिति सुधारनी है और इसके लिए हमें पहले से अधिक मेहनत करनी है और पहले से अधिक अच्छे ढंग से काम करना है। लेकिन ऊपर जिस दूसरे नुस्खे का उल्लेख किया गया है, उस पर तो यहाँ विचार करना नहीं है।

नेहरू यह तो ठीक कहते थे कि लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने के लिए भारत में औद्योगीकरण अथवा कृषीतर साधनों का विकास आवश्यक है। लेकिन नेहरू ने ग़लती यह की कि सोवियत रूस की नक़ल करने की कोशिश में पहले भारी उद्योगों के विकास की नीति अपना ली जिससे हमारी अर्थव्यवस्था बर्बाद हो गयी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रहन-सहन का स्तर तभी ऊँचा होगा जब श्रमिक खेती से हटकर कृषीतर धंधों में लगें और यह तभी हो सकता है जब खेती का उत्पादन इतना बढ़े कि उत्पादकों की आवश्यकता से अधिक हो। इसका मतलब है कि अगर भारत को जिन्दा रहना है और आगे बढ़ना है तो खेती से नहीं बचा जा सकता। इसका मतलब यह समझना ग़लत होगा कि साथ-साथ देश में औद्योगीकरण के प्रयत्न छोड़ दिये जायें। बहुत हद तक कृषि व उद्योग एक-दूसरे के पूरक हैं। सवाल यह है कि किस पर बल दिया जाय, किसे प्राथमिकता दी जाय ?

उद्योगपति और कुछ राजनीतिक नेता भी अक्सर इस सुझाव की हँसी उड़ाते हैं कि खेती के उत्पादन पर बल दिया जाय और उद्योगों को दूसरा स्थान दिया जाय। पूछा यह जाता है कि बिना औद्योगिक उत्पादन में अनुपातिक वृद्धि हुए कृषि का उत्पादन कैसे बढ़ सकता है ? भूमि की सिंचाई के लिए हमें तालाब बनाने होंगे, नहरें बनानी होंगी, बिजली के कुओं की जरूरत होगी जिनके लिए हमें चाहिए सीमेंट, इस्पात, बिजली। कृषि व उद्योग की पारस्परिक निर्भरता को स्वीकार करते हुए भी उद्योगपति व सभी बुद्धिजीवी उद्योगों को या तो प्राथमिकता देते हैं, या उन पर बल देते हैं। उनकी दलील यह है कि बिना उन साधनों के जो केवल उद्योग मुहैय्या कर सकते हैं, कृषि के उत्पादन में वृद्धि की आशा करना गलत है।

यही दृष्टिकोण है जो भारत की आर्थिक बर्बादी के लिए जिम्मेदार है। वर्तमान आर्थिक नीति के समर्थकों से प्राथमिकता के प्रश्न पर असहमत होते हुए भी उनके इस कथन से इंकार नहीं किया जा सकता कि औद्योगीकरण से कृषि की उत्पादकता बढ़ाने में सहायता मिलेगी, क्योंकि उपभोक्ता वस्तुओं (जैसे, कपड़ा, जूते, किताबें) की पूर्ति खेतिहर मजदूरों को अभिप्रेरणा पहुँचाने का काम करेगी और पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति (उदाहरण के लिए, उर्वरक के रूप में कार्य-चालन पूंजी, लोहे के यन्त्रों तथा डीजल पम्पों के रूप में स्थिर पूंजी) एक प्रकार से भूमि को अभिप्रेरणा पहुँचाने का काम करेगी। विकासोन्मुख उद्योगों से (व उसके साथ आवश्यक रूप से बढ़ते हुए वाणिज्य, परिवहन व अन्य सेवाओं से) खेती के उत्पादन के लिए मण्डी का विस्तार होगा क्योंकि शहरी आबादी और प्रक्रमण व विनिर्माण उद्योगों के लिए कृषि उत्पादों की माँग बढ़ेगी और जब तक यह नहीं होता किसान अपनी आवश्यकता से अधिक खेती का उत्पादन नहीं बढ़ायेगा। औद्योगिक केन्द्रों में खेती की पैदावार की माँग बढ़ने से खेतिहरों की प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। लेकिन साथ ही यह भी मानना होगा कि कृषि के विकास से ही औद्योगिक व अन्य कृषीतर श्रमिकों को खाद्यान्न मिलेंगे, उद्योगों को कच्चा माल मिलेगा, विदेशों से पूंजीगत माल मँगाने के लिए विदेशी मुद्रा मिलेगी, उद्योगों के उत्पाद के लिए घरेलू मण्डी बनेगी, और उद्योग, परिवहन व वाणिज्य के लिए श्रमिक मिलेंगे।

इसमें किसी को सन्देह नहीं है कि आज औद्योगिक विकास अथवा कृषीतर साधनों के विकास के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट कृषि उत्पादन की कमी ही बन गयी है। कृषि उत्पादन की कमी व घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण क़ीमतें बहुत बढ़ गयी हैं, घरेलू मण्डी सिकुड़ गयी है, शहरों में बेचैनी बढ़ गयी है, जगह-जगह हड़तालें होने लगी हैं, मजदूरों का अनुशासन ढीला हो गया है और पूंजी लगाने के लिए वातावरण दूषित हो गया है। कृषि व उद्योग, दोनों,

एक-दूसरे के विकास के लिए कारण-कारक हैं। जैसे जब उद्योग खुशहाल होते हैं तो कृषि का विकास होता है ग्रौर खेतिहरों में भी खुशहाली ग्राती है, वैसे ही कृषि के विकास से उद्योग का भी विकास होगा व कृषीतर जनता खुशहाल होगी।

इसका यह मतलब भी नहीं कि उद्योग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जितना कृषि। प्राथमिक भूमिका, अग्रगामी की भूमिका तो कृषि की ही है। ग्रादमी बिना ग्रौद्योगिक वस्तुग्रों के तो काम चला सकता है लेकिन बिना भोजन के जीवित नहीं रह सकता। इसी प्रकार खेती तो ग्रन्ततोगत्वा बिना भारी ग्रथवा पूंजीगत उद्योग के हो सकती है, उद्योग बिना खेती के नहीं चल सकते। बिना सीमेंट, इस्पात व बिजली बड़ी मात्रा में मिले कुएँ, तालाब व नहरें तो बन सकते हैं ग्रौर हमारे पूर्वजों ने तथा ग्रंग्रेजों ने भी बनाये ही थे ग्रौर कपड़ा, जूते व किताबें भी बन सकती हैं। वैसे भी, उद्योग की ग्रपेक्षा खेती में सीमेंट ग्रादि माल का बहुत कम ग्रंश इस्तेमाल होता है। जहाँ तक खाद का प्रश्न है, जैव उर्वरक ग्रजैव उर्वरकों से कहीं ज्यादा ग्रच्छे होते हैं, शर्त यह है कि जैव उर्वरक इकट्ठा किये जा सकें ग्रौर उनको तैयार किया जा सके जैसा कि चीन-निवासी पिछली चालीस शताब्दियों से करते ग्राये हैं।

ग्रार्थिक जीवन-क्षमता, घरेलू हो या विदेशी, कृषि की उपेक्षा करके प्राप्त नहीं की जा सकती। ग्रौर ग्रार्थिक जीवन-क्षमता पर ही देश की राजनीतिक स्थिरता ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक महत्ता निर्भर है। हमारे पास-पड़ोस के छोटे-छोटे राज्य व हमारे परम्परागत मित्र हमें छोड़कर दूसरों की ग्रोर सहायता व बचाव के लिए देख रहे हैं क्योंकि भारत स्वयं ग्रपना काम नहीं चला पा रहा ग्रौर खाद्य उत्पादन की विशाल सम्भावनाग्रों के होते हुए भी उसे खाद्यान्न का ग्रायात करना पड़ता है।

जब से, 1947 में, भारत स्वतन्त्र हुग्रा है, दुनिया यह विचित्र तमाशा देख देख रही है कि ग्रमेरिका जो ग्रौद्योगिक दृष्टि से सबसे विकसित देश है भारत जैसे कृषि प्रधान देश को खाद्यान्न दे रहा है जहाँ कृषि के ग्रन्तर्गत ग्राये क्षेत्रफल के 75 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न की पैदावार होती है ग्रौर जहाँ श्रमिक-बल में से 52.25 प्रतिशत लोग केवल खाद्यान्न की खेती में लगे हैं। जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में खाद्य-पदार्थों की भूमिका का महत्त्व बढ़ता जायगा। यह सम्भावना स्पष्ट दिखायी देती है कि खाद्य निर्यात करने वाले देश खाद्य-पदार्थों को ग्रायात करने वाले देशों के विरुद्ध एक राजनीतिक ग्रस्त्र के तौर पर इस्तेमाल करेंगे। इसलिए यदि भारत को जिन्दा रहना है ग्रौर प्रगति करनी है तो उसे कृषि को सर्वप्रमुखता प्रदान करनी होगी।

2

खेतिहर संरचना

उत्पादन के तीन कारक हैं : भूमि, श्रम तथा पूंजी। इनमें से किसी एक या एक से अधिक कारकों में वृद्धि करके तथा/अथवा इन कारकों के प्रयोग के उपाय अथवा उपायों में सुधार करके कृषि का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इसका अर्थ है कि खेती के उपायों तथा प्रविधियों में नवीनता लायी जाय तो उत्पादन बढ़ सकता है। जहाँ तक भूमि का सम्बन्ध है, वह अत्यावश्यक कारक है लेकिन उसका क्षेत्रफल निर्धारित है, और मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न कर ले उसे बदला नहीं जा सकता, न ही बढ़ाया जा सकता है। लेकिन भूमि की उत्पादकता इस पर मुनहसिर है कि वह किसके पास है और वह उस पर कैसे काम करता है—खेतिहर स्वावलम्बी (खुद-मुख्तार) है, खेतों का सहकारीकरण या सामूहीकरण हो गया है, या फिर बहुत बड़े-बड़े सरकारी या निजी फ़ार्म हैं—अर्थात् खेतिहर संरचना किस प्रकार की है ?

हमारे खेतिहर संगठन के (वास्तव में, सारी अर्थव्यवस्था के) सम्भवतः चार उद्देश्य ही हो सकते हैं :

(क) सम्पत्ति का अधिकतम उत्पादन हो अर्थात् ग़रीबी का उन्मूलन हो। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए जरूरी है कि (हमारे सामाजिक व आर्थिक मनोभावों में परिवर्तन के साथ-साथ) कृषि की व्यवस्था इस प्रकार की जाय कि जैसे-जैसे समय गुजरे खाद्यान्नों व कच्चे माल का अधिकाधिक उत्पादन हो सके।

(ख) रोजगार की व्यवस्था की जाय। अन्तिम उद्देश्य यही है कि खेतों पर काम करने के लिए कम-से-कम लोग रहें ताकि सभ्य समाज के लिए आवश्यक औद्योगिक माल के उत्पादन और सेवाओं में अधिकाधिक काम करने के

लिए उन्हें खेती से छुड़ाया जा सके। लेकिन जब देश में लाखों बेरोजगार व अर्धरोज़गार व्यक्ति रोज़गार या पूर्ण रोज़गार की तलाश में फिर रहे हों तो हमें खेती की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जो प्रति एकड़ भूमि पर अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक लोगों को रोज़गार दे सके।

(ग) सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण हो अथवा आय में अनुचित असमानता न हो। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भूमि के वर्तमान स्वामित्व व भावी उपार्जन पर अधिकतम सीमा लगा दी जाय—और सम्भव हो तो न्यूनतम सीमा भी निर्धारित कर दी जाय।

(घ) ज़िन्दगी के उस ढंग का प्रसार हो जो हमने अपने लिए चुना है—दूसरे शब्दों में, जनवादी प्रवृत्तियों को उभरने दिया जा सके व सुदृढ़ बनाया जा सके।

हमारा दावा है कि ऐसी व्यवस्था से ही हम इन चारों उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं जिसमें स्वावलम्बी (खुद-मुख्तार) खेतिहर अपनी छोटी-छोटी जोतों के मालिक हों और सेवा सहकारी समितियाँ उनको एक-दूसरे से जोड़ती हों। इसके लिए जरूरी है कि हर खेतिहर को उस भूमि पर जो उसके पास हैं स्वामित्व प्रदान किया जाय और उसे बेदखल किये जाने की चिन्ता न सताती रहे।

डब्लू० ए० लैडजिन्स्की भूमि-सुधार व कृषि के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञ हैं, विश्व बैंक के परामर्शदाता है और उन्हे जापान, फार्मूसा व दक्षिण वियतनाम का अनुभव है। उनका कहना है कि "जब तक वे व्यक्ति जो भूमि पर काम करते हैं, उसके मालिक न हों या कम-से-कम काश्तकार के रूप में अपने को पूरी तरह सुरक्षित अनुभव न करते हों, तब तक हर चीज महत्त्वहीन है। और यह हासिल करना सबसे कठिन काम है। उत्पादन बढ़ाने के लिए विज्ञान का प्रयोग करना अपेक्षाकृत सरल काम है लेकिन यह तभी किया जा सकता है जब उसे भूमि में पूंजी लगाने तथा उत्पादकता बढ़ाने के लिए अभिप्रेरित किया जा सके—यह अभिप्रेरणा प्राप्त होगी भूमि के साथ उसके सम्बन्ध से, राज्य द्वारा उसके साथ किये गये व्यवहार से, कृषि के प्रति राज्य के व्यवहार से।"

लगान पर ज़मींदार से भूमि लेकर काश्तकारी करने की व्यवस्था के स्थान पर खेतिहरों को स्वामित्व प्रदान करना आवश्यक है जिसका अर्थ है, ज़मींदारी व्यवस्था का पूर्ण रूप से उन्मूलन करना। भूमि जोतने वाले हर व्यक्ति को, चाहे मौजूदा क़ानून के अनुसार उसकी कुछ भी हैसियत है, स्थायी अधिकार दिये जाने चाहिए और राज्य से उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। किसी भी मध्यवर्ती या भूपति को खुदकाश्त के नाम पर वर्तमान जोतने वालों से ज़मीन वापस लेने की इजाज़त न दी जाय और किसी भी खेतिहर को यह

इजाज़त न हो कि वह अपनी जोत को पट्टे पर दे सके—हां, अगर खेतिहर सरकारी सेना में है, विकृत मस्तिष्क का है, या अपंग है जिसकी वजह से वह स्वयं खेती नहीं कर सकता तो ज़रूर वह उसे पट्टे पर उठा सकता है।

यदि केरल, आंध्र, पश्चिमी बंगाल या बिहार में कम्युनिज़म ने—चाहे वह उदारवादी ढंग का हो चाहे उग्रवादी—सिर उठाया है, और अगर देश के कई भागों में हिंसा व असन्तोष फैला हुआ है, तो बहुत हद तक उसकी वजह यह है कि ज़मींदारी-उन्मूलन के प्रश्न पर कांग्रेस के नेतृत्व के कथन व कार्यों में बहुत अन्तर रहा है। शायद और कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहां सरकारी नीति और उसके कार्यान्वयन में इतना अन्तर हो जितना भूमि-सुधार के मामले में। उत्तर प्रदेश को छोड़कर सारे देश में शिकमी काश्तकारों और उन खेतिहरों को जो सचमुच खेती करते थे लेकिन ज़मींदारों व पटवारियों के लालच की वजह से खसरा-खतौनी में ग़ैरक़ानूनी क़ाबिज़ दर्ज थे, बिना पूछताछ के बेदखल कर दिया गया। उत्तर प्रदेश में उनको स्थायी अधिकार दिये गये। यही नहीं, उत्तर प्रदेश को छोड़कर और कहीं भी बटाईदारों को तथा ज़मींदारों की सीर या खुदकाश्त भूमि के शिकमी काश्तकारों को जोतदार नहीं तसलीम किया गया है जिसका मतलब है कि पहले की तरह आज भी वे ज़मींदार की मर्ज़ी पर बेदखल किये जा सकते हैं। अधिकतर राज्यों में उन लोगों को भी, जिन्हें अंग्रेज़ी शासन-काल में वास्तविक जोतदार माना गया था, यह कहकर बेदखल कर दिया गया कि ज़मींदारों को खुदकाश्त के लिए अपनी भूमि वापस लेने का अधिकार है। उदाहरण के लिए, अकेले महाराष्ट्र में 1948 में पहला भूमि-सुधार क़ानून पास होते ही ज़मींदारों ने 16 लाख एकड़ भूमि किसानों से खुदकाश्त के नाम पर वापस ले ली जिसके फलस्वरूप राज्य-भर में हर तीन में से दो 'संरक्षित' किसानों के हाथों से भूमि निकल गयी।

1963 में डब्लू० ए० लैडजिन्स्की ने "भूमि-व्यवस्था का कृषि उत्पादन पर प्रभाव" शीर्षक एक रिपोर्ट योजना आयोग के लिए तैयार की थी। उसमें उन्होंने कहा था कि "वास्तव में, केवल उत्तर प्रदेश में ही एक बहुत सोचा-समझा व व्यापक क़ानून पास किया गया है और उसे असरदार ढंग से लागू किया गया है। वहां दसियों लाख काश्तकारों व शिकमी काश्तकारों को मिल्कियत दी गयी और उन लाखों काश्तकारों को जो बेदखल कर दिये गये थे उनके अधिकार वापस दिये गये।" लैडजिन्सकी ने अन्त में लिखा, "भारत में भूमि-सुधार के कई अच्छे क़ानून बने लेकिन वे बेजान साबित हुए। सिर्फ़ उत्तर प्रदेश में ऐसे क़ानून बने जिन पर साथ-साथ अमल हुआ और महत्त्वपूर्ण कामयाबियां मिलीं। इससे यही सबक़ सीखा जा सकता है कि अगर इच्छा हो तो भूमि-सुधार किये जा सकते हैं।"

भारत सरकार ने 1969 में "कृषि-क्षेत्र में वर्तमान तनावों के कारण व उनका रूप" जानने के लिए एक रिपोर्ट तैयार की थी जिसमें देश के कुछ भागों में फैले असंतोष का अध्ययन किया गया था। उससे भी यही नतीजा निकलता है और उसकी पुष्टि होती है विश्व बैंक की एक रिपोर्ट से जो बैंक की ओर से पेरिस में 17-18 जून 1971 को बुलायी गयी 'एड-इण्डिया कंसोरशियम' की बैठक में उपस्थित की गयी थी। विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार :

> "असम, तेलंगाना (आंध्र), हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर, पंजाब और तमिलनाडु में मध्यवर्ती जोतों व हितों के उन्मूलन के लिए अभी क़ानून बनने है। आंध्र प्रदेश, बिहार, सौराष्ट्र व तमिलनाडु में काश्तकार व बटाईदार अभी तक अरक्षित हैं। हरियाणा व पंजाब में काश्तकारों को संरक्षण तो दिया गया है लेकिन ज़मींदारों को भूमि वापस लेने का अधिकार अभी तक है। बेदखली रोकने के लिए बने क़ानूनों का व्यापक उल्लंघन होता है।...
>
> "आंध्र, हरियाणा, पंजाब व (छोटे काश्तकारों के लिए) जम्मू व कश्मीर, और तमिलनाडु में ज़मींदार को देय लगान या फ़सल का भाग ज़्यादा है।"

विश्व बैंक की रिपोर्ट में चार क़दम उठानें की सिफ़ारिश की गयी थी : पहला, जोतों का खसरा-खतौनी तैयार किया जाय; दूसरा, नक़द लगान इस तरह तय किया जाय कि मालगुज़ारी का बहुगुणांक हो; तीसरा, ज़मींदारों द्वारा खुद-काश्त के नाम पर भूमि वापस लेने का अधिकार या तो खत्म कर दिया जाय या वापस लेने की इजाज़त केवल विशेष स्थितियों में ही हो; चौथा, काश्तकारों द्वारा स्वेच्छा से अपनी जोत छोड़ने के लिए नियम बनाये जायें। रिपोर्ट में कहा गया था कि यह क़दम नहीं उठाये गये तो वह समय तेज़ी से आ जायगा जब गाँवों की गरीबी की समस्या से बचा नहीं जा सकेगा। क्योंकि उसकी वजह से देश की स्थिरता पर असर पड़ेगा।

उत्पादन के तीन कारकों के सम्बन्ध में डब्लू॰ जे॰ स्पिलमैन ने कहा है, "व्यापार में अधिकतम लाभ का सम्बन्ध उस कारक के अधिकतम लाभ से है जो उसे (व्यापार को) सीमित बनाता है। यदि भूमि सीमित करने वाला कारक है तो उद्देश्य यह होना चाहिए कि प्रति एकड़ अधिकतम लाभ प्राप्त हो। यदि श्रम के कारण व्यापार सीमित होता है तो उद्देश्य यह होना चाहिए कि श्रम की प्रति इकाई से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जाय। इसी प्रकार, सीमित बनाने वाला कारक यदि वस्तुएँ हैं तो उद्देश्य होना चाहिए कि इन वस्तुओं की हर इकाई से

अधिकतम लाभ प्राप्त किया जाय।"[1]

भारत में यह गुंजायश कम है कि ग़ैरमजरुआ (बंजर) भूमि को तोड़कर या वहाँ नये लोगों को बसाकर कृषि का विस्तार किया जा सके। साथ ही, देश की जनसंख्या अधिक होने व निरन्तर बढ़ते जाने की वजह से श्रमिकों की कमी नहीं है—श्रमिकों की पूर्ति असीम है। पूंजी के उस अंश की भी कमी नहीं है जो अधिकतर संकर्षण-शक्ति उपलब्ध करता है, जैसे खींचने वाले पशु, और उसकी कमी हो भी तो उसके स्थान पर सुधरे हुए उपकरणों या छोटे-छोटे यंत्रों से बिना कठिनाई के काम लिया जा सकता है। मतलब यह कि उत्पादन के तीनों कारकों में से केवल भूमि ही सीमित है।

इसलिए हमारी खेतिहर व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा भूमि का अधिक-से-अधिक उपयोग हो सके—जिसका अर्थ है कि भूमि प्रति एकड़ अधिक-से-अधिक उपज दे सके चाहे इतनी उपज श्रम व पूंजी के अधिकतम उपयोग के अनुरूप हो, चाहे न हो। दूसरे शब्दों में, हमारे लिए वही अर्थव्यवस्था अच्छी है जिसमें हम भूमि से पूरा लाभ उठाने के लिए अधिक श्रम या पूंजी या दोनों का प्रयोग कर सकें—या, दूसरे शब्दों में, हम प्रति एकड़ अधिकाधिक उपज प्राप्त कर सकें।

स्पष्ट है कि हमारा उद्देश्य प्रति व्यक्ति अथवा प्रति खेतिहर-श्रमिक अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना नहीं बल्कि प्रति एकड़ जितना सम्भव हो उतना ही ज्यादा उत्पादन होना चाहिए। यही तरीक़ा है जिससे हम देश-भर में अधिकतम उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं और ग़रीबी दूर कर सकते हैं।

इसके विपरीत, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया या न्यूज़ीलैण्ड ऐसे देश हैं जहाँ भूमि सीमित कारक नहीं है और श्रम का अपेक्षाकृत अभाव है। इन देशों के राष्ट्रीय हित में यह होगा कि प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के बजाय प्रति श्रमिक अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जाय। ऐसे देशों में यह सम्भव है कि भूमि का अपव्यय हो, पर उससे नुक़सान नहीं होगा।

दुनिया-भर से जमा किये गये आँकड़ों से और भारत सरकार के कृषि मंत्रालय के तत्वाधान में किये गये कृषि व्यवस्था-अध्ययनों से मालूम होता है कि सिद्धान्त के अनुसार तो खेत के आकार का प्रति एकड़ उत्पादकता से कोई सम्बन्ध नहीं लेकिन व्यवहार में विशेष परिस्थितियों में जैसे-जैसे खेत का आकार बड़ा होता जाता है उसकी प्रति एकड़ उत्पादकता घटती जाती है। इसका कारण यह है कि कृषि उत्पादन एक जीवन-क्रिया है और हर जीवित चीज़ की तरह कृषि पर भी इसका प्रभाव पड़ता है कि उसकी ओर कितना ध्यान दिया

---

1. 'द लॉ ऑफ़ डिमनिशिंग रिटर्न्स', पृ० 43

जा रहा है, उससे कितना लगाव है। जितना ज़्यादा खेत का आकार बड़ा होगा उतना ही प्रति एकड़ उस पर कम श्रम व्यय होगा और प्रति एकड़ कम देख-भाल होगी।

यदि एक सौ एकड़ के फ़ार्म पर चार से अधिक आदमी काम करें तो कम उत्पादन होगा—जितने अधिक आदमी काम करेंगे उतना ही प्रति आदमी कम उत्पादन होगा। (पृष्ठ 26 पर आंकड़े देखिये)। डॉ० एल्मेर पैण्डेल ने कहा है कि उन्होंने ऐसी ज़मीन चुनी जो बहुत अच्छी नहीं थी और जहाँ खेतिहर बहुत कम औज़ार प्रयोग करते थे। अगर सौ एकड़ के फ़ार्म पर अठारह व्यक्तियों का निर्वाह होना है तो प्रति एकड़ उत्पादन पर औज़ारों से भी कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा क्योंकि प्रति व्यक्ति जितनी कम भूमि होगी उतना ही कम उसे औज़ारों के प्रयोग से लाभ होगा।

जान लोसिंग बक ने एक पुस्तक[1] में चीन के फ़ार्मों के एक व्यापक अध्ययन के परिणाम दिये हैं जिसके आंकड़े पृष्ठ 27 पर दिये जा रहे हैं।

ये आंकड़े खेती में ह्रासमान प्रतिफल का प्रमाण हैं। दोनों तालिकाएं एक-सी हैं लेकिन चीन के फ़ार्मों के आंकड़े निर्वाह-स्तर की स्थिति तथा ह्रासमान प्रतिफल की प्रक्रिया का उत्पन्न होना दिखाते है। लेकिन फ़ार्म का आकार 2.6 एकड़ से कम होने पर उत्पादन कम होने का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं हैं। सम्भव है कि खेत का आकार बहुत छोटा होने का खेतिहरों के मनोभाव पर प्रभाव पड़ा है।

ये आंकड़े हर देश के लिए सही होंगे। छोटे खेतों पर प्रति एकड़ उपज बड़े फ़ार्मों से अधिक होती है। अगर भारत जैसे घने बसे देश में सवाल यह हो कि सौ एकड़ का एक फ़ार्म बनाया जाय या ढाई-ढाई एकड़ के चालीस खेत, तो देश के लिए पूंजीगत लागत ढाई-ढाई एकड़ के चालीस खेत बनाने में कम पड़ेगी। छोटे खेतों के पक्ष में एक और दलील दी जा सकती हैं। भारत के सामने बेरोज़गारी का सवाल है। इसलिए राष्ट्रीय हित की मांग है कि खेतिहर व्यवस्था ऐसी हो जिसके द्वारा भूमि से, जो हमारे यहाँ सीमित कारक है, अधिकतम उपज लेने के साथ-साथ गांव वालों को अधिकतम रोज़गार मुहैय्या किया जा सके।

बड़े फ़ार्मों के प्रबन्ध में अपव्यय होता है और किराये के मज़दूरों की देख-भाल करना मुश्किल होता है जिसकी वजह से बड़ी मशीनों का प्रयोग होने लगता है और बड़ी मशीनें मज़दूरों का स्थान ले लेती हैं। इसके विपरीत जोत छोटी हो तो मशीन का प्रयोग कम हो पायेगा जिसकी वजह से अधिक आदमियों

---

1. 'लैण्ड यूटिलाइज़ेशन इन चाइना', यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, 1937

ह्रासमान प्रतिफल के नियम का उदाहरण

खेती का काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या	कुल व्यक्तियों द्वारा कितने एकड़ भूमि को काम में लिया गया	(बुशल्स में) सौ एकड़ भूमि का कुल उत्पादन	(बुशल्स में) क्रमानुसार उस व्यक्ति के कारण हुआ उत्पादन जिस पर पहली बार विचार किया गया	(बुशल्स में) प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन	(बुशल्स में) प्रति एकड़ उत्पादन
1	2	3	4	5	6
1	100	200	200	200.00	2.00
2	100	500	300	250.00	5.00
3	100	900	400	300.00	9.00
4	100	1,250	350	312.50	12.50
5	100	1,540	290	308.00	15·40
6	100	1,730	240	296.67	17.80
7	100	1,980	200	282.85	19.80
8	100	2,150	170	268.75	21.50
9	100	2,300	150	255.55	23.00
10	100	2,440	140	244.00	24.40
11	100	2,575	135	234.09	25.75
12	100	2,705	130	225.42	27.05
13	100	2,830	125	217.69	28.30
14	100	2,950	120	210.71	29.50
15	100	3,067	117	204.47	30.67
16	100	3,131	114	198.81	31.81
17	100	3,292	111	193.65	32.92
18	100	3,400	108	188.88	34.00

स्रोत : एल्मेर पैण्डेल कृत "पापुलेशन इन द लूज", न्यूयार्क, 1952

चीन के फ़ार्मों का उत्पादन

फ़ार्म ग्रुप	प्रति एक सौ फ़सल-एकड़ के बराबर व्यक्ति	प्रति व्यक्ति के बराबर फ़सल-एकड़	खाद्यान्न को बुशल्स में तोला जाय तो प्रति व्यक्ति के बराबर उत्पादन	खाद्यान्न को बुशल्स में तोला जाय तो प्रति एकड़ के बराबर उत्पादन
1	2	3	4	5
क	25.00	4.0	76.1	19.0
ख	31.25	3.2	62.0	19.4
ग	38.46	2.6	53.5	20.6
घ	47.62	2.1	43.1	20.5
च	66.67	1.5	30.6	20.4

को काम मिलेगा। आँकड़ों से मालूम हो जायगा कि उन देशों में जहाँ छोटी जोतें हैं, प्रति सौ एकड उन देशों की अपेक्षा अधिक लोग खेतों में काम करते हैं जहाँ जोतें बड़ी हैं। उदाहरण के लिए जापान, तायवान व दक्षिण कोरिया में औसत जोत 2.92 एकड़, 3.14 एकड़ व 5.12 एकड़ है और वहाँ ऐसी कृषि-योग्य भूमि के जिस पर बराबर पैदावार होती है, हर सौ एकड़ पर क्रमश: 87, 79 और 89 व्यक्ति काम करते हैं। इसके विपरीत अमेरिका, मेक्सिको व ब्राजिल में जहाँ औसत आराजी 302.65 एकड़, 305.93 एकड़ व 178.95 एकड़ है, प्रति सौ एकड़ पर क्रमश: 1, 12 व 17 व्यक्ति काम करते हैं।[1]

तीसरे, कृषि की ऐसी व्यवस्था में जहाँ खेत जोतने वाला भूमि का स्वयं स्वामी है। कृषि स्वामित्व इतनी तीव्रता से समानता के समाज को संगठित करता है कि उसमें सम्पत्ति का केन्द्रीकरण नहीं हो सकता और इसलिए धन तथा आय की असमानता अधिक नहीं होगी।

अन्त में चाहे कृषक का अवकाश हो, कृषि का मौसम हो या न हो, वह तो बैलों की जोड़ी या छोटी मशीन से एकान्त प्रकृति में अपने काम में लगा रहता है। उसे न तो किसी को आदेश देने की आवश्यकता होती है और न किसी से आदेश लेने की। यह व्यवस्था राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में स्वतंत्र दृष्टिकोण तथा कार्य वाली जनसंख्या का निर्माण करती है। इस प्रकार कृषक स्वामित्व जनतंत्र के सबसे बड़े प्राचीर के रूप में उभरता है। अत: निष्कर्ष यह हुआ कि कृषि स्वामित्व से केवल धन में ही अधिक वृद्धि नहीं

1. 'एफ़-ए-ओ प्रोडक्शन ईयर बुक्स', 1966 और 1968

होगी अपितु इससे अधिक रोजगार मिलेगा तथा भूमि से भयावह असमानतायें भी दूर हो जायेंगी और यही जनतंत्र का सबसे अधिक सुरक्षित आधार सिद्ध होगा।

यह सत्य है कि कृषकों को बड़े कठोर परिश्रम से अपनी आजीविका कमानी पड़ती है, और उनमें से बहुत कम कुछ बचा कर जोड़ पाते हैं। यद्यपि वे परिवर्तनविरोधी होते हैं किन्तु प्रतिक्रियावादी नहीं। वे निजी सम्पत्ति या अर्थव्यवस्था के पक्ष में हो सकते हैं किन्तु वे शोषक कदापि नहीं हो सकते।

इस प्रकार की भूमि-व्यवस्था व खेतिहर संरचना ही प्रकृति की देन के अनुकूल होगी और जैसा समाज हम बनाना चाहते हैं, अर्थात् जनतन्त्र, उसके भी अनुकूल होगी। लेकिन मार्क्सवादी साहित्य में बखाने गये बड़े फ़ार्मों के दिखावटी लाभ कम्युनिस्टों व उनके सहयोगियों के दिमाग़ों में ऐसे समा गये हैं कि वे गाँवों व किसानों के बारे में कुछ न जानते हुए भी भूमि-सुधार का अर्थ सहकारी खेती ही लगाते हैं। सहकारिता के अन्तर्गत छोटी-छोटी जोतों को मिलाकर एक बड़ा फ़ार्म बना दिया जायगा जिस पर सब मिलकर काम करेंगे। ऐसे फ़ार्म पर अनिवार्य रूप से बड़ी मशीनों की आवश्यकता होगी। किसानों व देश के इन शुभचिन्तकों का मत है कि मशीनों के ही उपयोग से रहस्यमय ढंग से उत्पादन बढ़ जायगा। यह भलेमानुस सोचते-समझते तो हैं नहीं और बजाय इसके कि भारत की छोटी जोतों के अनुरूप कृषि में उपयोग होने वाली मशीनों और उनके प्रयोग में हेरफेर करें, यह लोग बड़े संयुक्त फ़ार्म बनाकर जोतों के आकार को ही मशीनों की ज़रूरतों के अनुरूप बदलना चाहते हैं।

यदि बड़ी मशीनों से ही कृषि-उत्पादन बढ़ता होता तो अमेरिका व सोवियत रूस में जहाँ फ़ार्मों पर बड़ी मशीनों से ही काम होता है, प्रति एकड़ उत्पादन पश्चिमी यूरोप व जापान से, जहाँ उनकी अपेक्षा बहुत कम मशीनों का इस्तेमाल होता है, कम न होता। अगले पृष्ठ पर दिये गये आँकड़ों से हमें मालूम होता है कि जापान में जहाँ प्रति खेतिहर परिवार औसत जोत सबसे कम अर्थात् तीन एकड़ है, भूमि की प्रति इकाई उत्पादन इंग्लैण्ड का चार गुना, अमेरिका का दस गुना और सोवियत रूस का सोलह गुना है। यह असंगत है कि फ्रांस, इंग्लैण्ड व अमेरिका में श्रम की प्रति इकाई उत्पादन जापान की अपेक्षा बहुत अधिक है। कृषि का मशीनीकरण श्रम की प्रति इकाई उत्पादन तो ज़रूर बढ़ाता हैं लेकिन भूमि की प्रति इकाई उत्पादन नहीं बढ़ाता—भारत जैसे देशों के लिए भूमि की प्रति इकाई उत्पादन बढ़ाना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कृषि तो जैव प्रक्रिया है। उसमें समय की बचत और छोटे-बड़े का फ़र्क सम्भव नहीं है। पौधों को बढ़ने के लिए उतनी ही जगह चाहिए और फ़सल

कृषि के उत्पादन व उत्पादकता का तुलनात्मक स्तर
(1965 में)

देश	कृषि उत्पादन में कुल मूल्य-वृद्धि	कुल मूल्य-वृद्धि : प्रति व्यक्ति जो खेती में लगा है	कुल मूल्य-वृद्धि : प्रति पुरुष जो खेती में लगा है	कुल मूल्य-वृद्धि : कृषि-योग्य भूमि के प्रति हैक्टर
1	2	3	4	5
	लाख डालरों में अमरीकी क़ीमतों के आधार पर		डालरों में अमरीकी क़ीमतों के आधार पर	
फ्रांस	50,000	1,573	2,334	154
जर्मनी (पश्चिमी)	24,820	837	1,321	160
इटली	42,970	867	1,268	203
जापान	54,680	451	948	523
इंग्लैण्ड	28,490	3,223	3,686	132
अमेरिका	2,35,870	5,429	6,678	50

स्रोत : एंगस मैडीसन कृत इकनॉमिक प्रोग्रेस इन जापान एण्ड यू० एस० एस० आर०, जार्ज एलन एण्ड अन्विन लि०, लन्दन, 1969, पृ० 65

को पकने के लिए उतना ही समय चाहिए, चाहे खेत छोटा हो चाहे फ़ार्म बड़ा हो। और ऐसी कोई वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी नहीं है जो बड़े फ़ार्म पर तो काम आ सके, छोटे खेत पर बेकार हो। खेती में काम (जोत) का क्षेत्र बढ़ाने से उत्पादन नहीं बढ़ता, यह तो दूसरे धन्धों में होता है। इसके विपरीत, साझे की खेती में अभिप्रेरण दुर्बल हो जाता है, इसलिए उत्पादन कम हो जाता है।

जहाँ तक बड़े सहकारी फ़ार्मों का सवाल है, मानव स्वभाव तो ऐसा है कि एक माँ के जने दो भाई भी परिवार के मुखिया के मरने पर अलग हो जाते हैं। इसलिए यह विचार कपोल कल्पना है कि सहकारी फ़ार्म बनने पर मामूली गृहस्थ यकायक पड़ोसियों तथा गाँव के अन्य लोगों के जिनसे उसका वास्ता नहीं,

हितों को अपने हित समझने लगेगा। सहकारी फ़ार्म ऐसे लोगों को एक साथ लाने का प्रयास है जिनमें न कोई पारिवारिक, न सामाजिक रिश्ता है—वे हिन्दू होंगे, मुसलमान होंगे, ब्राह्मण होंगे, हरिजन होंगे, भूस्वामी होंगे, पट्टेदार होंगे, खेतिहर होंगे, ग़ैर-खेती वाले होंगे। यदि मनुष्य उस ऊँचाई तक पहुँच जाय जहाँ वह हर व्यक्ति की भलाई में ही अपनी भलाई समझने लगे तो वह गृहस्थ ही नहीं रहेगा; परिवार, भाषा, धर्म व देश के बन्धन उसके लिए निरर्थक हो जायेंगे। ऐसी आदर्श स्थिति में तो आयोजन की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, आर्थिक नियम बेकार हो जायेंगे और प्रशासन की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। माँ अपने बच्चे को पालती-पोसती है क्योंकि वह स्वार्थी होती है—इसलिए नहीं कि उसे अपने बच्चों में दुनिया-भर के बच्चों की शक्ल दिखायी देती है। अपने जीवन-काल में ही स्वर्णयुग तक पहुँचने के अपने उत्साह में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मनुष्य केवल तर्क के सहारे चलता जीव नहीं है। वह अपने दिमाग़ की अपेक्षा दिल से ज़्यादा काम लेता है और अभी तक दिल उतना आगे नहीं बढ़ा है जितना दिमाग़। यह भी संदेहजनक है कि दिल उतना आगे बढ़ पायेगा जितना दिमाग़ जिसने दूरी को कम कर दिया है और दुनिया को उससे कहीं छोटा बना दिया है जितनी वह हमारे पूर्वजों के जमाने में थी। विज्ञान की प्रगति और बाह्य जगत पर नियन्त्रण के प्रयास ऐसी जगह तक नहीं पहुँच सके है कि अहं के आन्तरिक संसार को नियन्त्रित कर सकें और जब तक यह नहीं होता तब तक आर्थिक साझेदारी न सुचारु रूप से चल सकती है और न सफल हो सकती है। मनुष्य आज भी उतना ही स्वार्थी व लालची, घमण्डी व दूसरों से जलने वाला तथा महत्त्वाकांक्षी हैं जितना महाभारत के दिनों में था।

फ़ार्म का आदर्श आकार

सवाल यह है कि किसी व्यक्ति को एक छोटा खेत रखने की इजाजत दी जाय तो उसका क्षेत्रफल क्या हो या किस सीमा के अन्दर वह खेत रहे ? सिद्धान्त व न्याय दोनों का तकाजा है कि किसी भी देश में भूमि रखने या बाँटने का आधार यह होना चाहिए कि किसी आदमी के पास उतनी से अधिक भूमि न हो जितनी का प्रबन्ध वह अपने देश में प्रचलित खेती के तरीक़े के अनुसार स्वयं कर सके और किसी आदमी के पास उतनी से कम भूमि न हो जितनी की उत्पादकता बढ़ायी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, जोत की ऊपरी सीमा प्रति व्यक्ति श्रम-क्षमता के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए और न्यूनतम सीमा भूमि की एक इकाई की उत्पादन-क्षमता के आधार पर। ऊपर की तालिकाओं में दिये गये आँकड़ों से मालूम होता है कि जहाँ खेती मशीनों से नहीं बल्कि मनुष्य व पशुओं की शक्ति से होती है (और हमें अपने देश की

परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इसी प्रकार की खेती के बारे में सोचना चाहिए) वहाँ एक निश्चित क्षेत्रफल के भूखण्ड पर काम करने वाले आदमियों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती है—अर्थात् जैसे-जैसे प्रति व्यक्ति भूमि कम होती जाती है—वैसे-वैसे ही प्रति एकड़ उत्पादन इस तेज़ी से बढ़ता जाता है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन भी बढ़ने लगता है। यह सिलसिला तब तक चलता है जब प्रति व्यक्ति भूमि 33.3 एकड़ व 25 एकड़ के बीच रह जाती है—ठीक-ठीक कहा जाय तो 27.5 एकड़ रह जाती है। वहाँ पहुँचकर "ह्रासमान प्रतिफल का नियम" काम करने लगता है जिसका मतलब है कि 27.5 एकड़ से भूमि जितनी कम होती जाती है प्रति व्यक्ति उत्पादन गिरने लगता है। भूमि कम होती जाती है तो प्रति व्यक्ति उत्पादन तो गिरता है पर प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ता रहता है और यह सिलसिला तब तक चलता है जब उस व्यक्ति के पास 2.6 एकड़ व 2.1 एकड़ के बीच (या औसतन 2.5 एकड़) भूमि रह जाती है। उससे कम भूमि होने पर खेतिहर अपनी पूरी श्रमशक्ति का उपयोग नहीं कर पाता। इससे यह नतीजा निकलता है कि अगर एक व्यक्ति के पास 27.5 एकड़ से अधिक भूमि हो तो श्रम की कमी की वजह से भूमि का पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा और उसके पास 2.5 एकड़ से कम हो तो भूमि की कमी की वजह से वह पूरा काम नहीं कर पायेगा। इन दोनों स्तरों के बीच किसी एक व्यक्ति के पास जितनी अधिक भूमि होगी उसके लिए उतनी ही अच्छी होगी क्योंकि हर नये एकड़ के साथ उसका अपना (अर्थात् व्यक्ति का) उत्पादन बढ़ेगा, लेकिन इन दोनों स्तरों के बीच उसके पास जितनी कम भूमि होगी उतनी ही वह स्थिति देश के लिए लाभदायक होगी क्योंकि उससे ली गयी भूमि के हर एकड़ की उत्पादकता बढ़ने से देश का कुल उत्पादन बढ़ेगा।

इसलिए हमारे देश में—(क) जहाँ श्रम की नहीं भूमि की कमी है, (ख) जहाँ आज एक औसत खेतिहर परिवार के पास (जिसमें आमतौर से दो कमेरे होते हैं) कोई 6.25 एकड़ के लगभग भूमि है; (ग) जहाँ जनसंख्या बढ़ने की रफ़्तार बहुत अधिक है—लगभग 2.5 प्रतिशत प्रति वर्ष; और (घ) जहाँ औद्योगीकरण अथवा कृषीतर विकास इतनी धीमी रफ़्तार से हो रहा है कि खेतिहर जनसंख्या में भूमि-मनुष्य अनुपात कम होने के बजाय बढ़ता जा रहा है—जनहित में यह है कि :

(अ) भूमि के वर्तमान धारणों के लिए 27.5 एकड़ प्रति बालिग़ व्यक्ति (जिसमें उसकी पत्नी व नाबालिग़ बच्चे भी शामिल हैं) सीमा लगा दी जाय और हदबन्दी के बाद जो भूमि बचे उसे उन लोगों को बाँटा जाय जिनके पास भूमि नहीं है, या है तो 2.5 एकड़ से कम है।

(ब) न्यूनतम सीमा 2.5 एकड़ निश्चित की जाय, जिसका अर्थ है

कि भविष्य के लिए भूमि हस्तान्तरण व विभाजन सम्बन्धी क़ानूनों को ऐसे संशोधित किया जाय कि प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्रफल 2.5 एकड़ से कम न हो सके।

(ल) भूमि के भावी अर्जन को इस प्रकार नियन्त्रित किया जाय कि कोई व्यक्ति कुल मिलाकर (वर्तमान धारण व भावी अर्जन मिलाकर) निर्धारित सीमा से अधिक न रख सके और यह सीमा उच्चतम व न्यूनतम सीमाओं के बीच कहीं भी निश्चित की जाय।

उच्चतम व न्यूनतम सीमाएं हर क्षेत्र के लिए अलग-अलग हो सकती हैं। उनके निर्धारण में ऐसे तत्वों को ध्यान में रखना होगा जैसे उस क्षेत्र में खेतिहर जनसंख्या में भूमि-मनुष्य अनुपात या वहां की भूमि की उत्पादकता। उदाहरण के लिए, रेतीले क्षेत्र में उच्चतम सीमा 25 एकड़ व न्यूनतम 5 एकड़ हो सकती है लेकिन आबपाशी वाले क्षेत्र में 12.5 एकड़ व 2.5 एकड़ काफ़ी होंगी।

भूमि पुनर्वितरण

भूमि बर्बाद होने वाली चीज़ नहीं है। इसलिए जो लोग उस पर मेहनत करते हैं उनको सुरक्षा की भावना रहती है। इस प्रकार की सुरक्षा की अनुभूति और किसी रोज़गार से प्राप्त नहीं होती। भूमि कभी किसी को पूरी तरह निराश नहीं करती। यह आशा सदा बनी रहती है कि इसी से खुशहाली आयेगी, और अक्सर यह आशा पूरी भी होती हैं। इसलिए यह समझ में आने वाली बात है कि क्यों हमारे देश में भूमि का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए काफ़ी शोरगुल ही नहीं, छीना-झपटी व भगदड़-सी रहती है।

हमारे देश में कमाने वाले पुरुषों में से 67.4 प्रतिशत पुरुष खेतों में काम करते हैं, उनमें से 46.35 प्रतिशत ऐसे खेतिहर हैं जिनको स्वामित्व व धारण के अधिकार प्राप्त हैं और शेष 21.05 प्रतिशत खेतिहर मज़दूर हैं जिनको भूमि पर न स्वामित्व, न धारण और न कोई अधिकार प्राप्त हैं। जहां तक भू-स्वामियों के पास भूमि में असमानता का प्रश्न है, हम पाठकों का ध्यान भारत सरकार की 1970-71 की कृषि संगणना की रिपोर्ट की ओर आकर्षित करेंगे। उससे पाठकों को मालूम होगा कि एक ओर तो 50.6 प्रतिशत भू-स्वामियों के पास 1970-71 में देश की कुल भूमि की केवल 9 प्रतिशत भूमि थी दूसरी ओर केवल 3.9 प्रतिशत भू-स्वामियों के अधिकार में 30.9 प्रतिशत भूमि थी।

खेतों के छोटे आकार के पक्ष में दो दलीलों पर बल देते हुए कृषि व भूमि-सुधार आयुक्त पी० एस० अप्पू ने भारत सरकार को अप्रैल 1971 में जोतों की हदबन्दी पर अपनी रिपोर्ट में लिखा था :

"एक मत यह है कि जोतों की हदबन्दी करने तथा (हदबन्दी के बाद) अतिरिक्त भूमि का पुर्नवितरण करने से भारत जैसे अधिक आबादी के दबाव वाले व उत्पादक रोज़गारों के अपर्याप्त अवसरों वाले देशों में कुल कृषि उत्पादन बढ़ने व उपलब्ध श्रमिक-बल का अधिक उपयोग किये जाने की सम्भावना है। यह दोनों नतीजे इसलिए निकल सकते हैं कि बड़ी जोतों के स्वामी आमतौर से भाड़े के मजदूरों पर निर्भर रहते हैं और उतने ही मज़दूरों को काम पर लगाते हैं जो उनको (मज़दूरों को) दी जाने वाली मजदूरी से कुछ ज्यादा उत्पादन कर सकें। लेकिन इस तरह का विचार छोटी जोत वालों को नहीं रोकता। छोटी जोतों पर तो घर के ही लोग मेहनत करते हैं। क्योंकि और किसी रोज़गार की आशा नहीं होती इसलिए घरवाले इतना काम करते हैं जो उनका उत्पादन मज़दूरी से बहुत अधिक होता है। सच तो यह है कि जब तक अधिक उत्पादन की आशा रहती है तब तक घरवाले काम करते ही रहते हैं। इसलिए छोटी जोतों पर प्रकृष्ट खेती होगी जिससे कुल उत्पादन बढ़ेगा और साथ-साथ उपलब्ध श्रमिक शक्ति का अधिक प्रयोग होगा।"

अक्सर यह कहा जाता है कि आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय अथवा अधिकाधिक आर्थिक समानता परस्पर विरोधी उद्देश्य हैं। लेकिन यह भ्रामक धारणा है। कम-से-कम कृषि उत्पादन के क्षेत्र में यह धारणा निराधार है। बात उल्टी है। जैसा हम देख चुके हैं, भूमि के बँटवारे में अधिकाधिक समानता से गाँवों में अधिकाधिक आर्थिक विकास होगा।

केरल, पश्चिम बंगाल व आन्ध्र प्रदेश के अलावा कम्युनिज़्म ने बिहार में व इधर तमिलनाडु में भी सिर उठाया है। इसकी कुछ हद तक वजह नीचे के आँकड़ों से मालूम हो जायगी जिनसे पता चलता है कि इन प्रदेशों में भूस्वामियों

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	72.93	मैसूर	46.18
असम	16.50	उड़ीसा	47.52
बिहार	69.82	पंजाब	46.30
गुजरात	33.66	राजस्थान	11.55
हरियाणा	31.62	तमिलनाडु	69.33
केरल	113.65	उत्तर प्रदेश	28.64
मध्य प्रदेश	33.82	पश्चिम बंगाल	73.00
महाराष्ट्र	59.41		

स्रोत : 1971 की जनगणना का पेपर I

के अनुपात में खेतिहर मजदूरों की संख्या अधिक है। इसलिए जिनके पास भूमि नहीं है उन्होंने यह सही माँग उठायी कि भूमि का पुनर्वितरण हो और राजनीतिक नेतृत्व ने माँग मान ली।

भारत सरकार की 1970-71 की कृषि संगणना की रिपोर्ट के अनुसार यदि सारे देश में 10 हैक्टर अथवा 25 एकड़ पर जोतों की हदबन्दी की जाती तो उस साल भी 86.70 लाख हैक्टर अथवा 216.75 लाख एकड़ ऐसी भूमि मिल सकती थी जिसे तभी, 1970-71 में भूमिहीनों को बाँटा जा सकता था। 86.70 लाख हैक्टर अथवा 216.75 लाख एकड़ निकालने से पहले यह हिसाब लगा लिया गया था कि बड़ी जोतों में 10 प्रतिशत भूमि बंजर होती है और आधी जोतें ऐसी होंगी जो मिल्कियत की साझेदारी की वजह से हदबन्दी से बच जातीं। लेकिन हुआ यह कि केवल कुछ लाख एकड़ भूमि ही अतिरिक्त निकली।

सरकारी आँकड़ों के अनुसार 9 जुलाई, 1976 को 43,97,500 एकड़ अतिरिक्त भूमि का अनुमान लगाया गया था। लेकिन केवल 20,25,600 एकड़ भूमि ही अतिरिक्त घोषित की गयी। इसमें से भी केवल 10,22,000 एकड़ भूमि को सरकार ने अपने हाथ में लिया। इस भूमि में से भी 6,94,500 एकड़ भूमि 3,54,000 व्यक्तियों को वितरित की गयी। भूमि पाने वालों में 1,62,000 व्यक्ति अनुसूचित जातियों व आदिम जातियों के थे जिन्हें कुल मिलाकर 1,97,900 एकड़ भूमि मिली।

हदबन्दी व पुनर्वितरण के कार्यक्रम की जो भी उपयोगिता या सम्भावनीयता रही हो वह पहले तो शासक दल की सत्ता-संरचना के कारण और फिर उसकी अक्षमता के कारण बेकार हो गयी। लैडजिन्स्की ने योजना आयोग को एक रिपोर्ट में लिखा है :

> "हदबन्दी को लेकर चल रहे विवाद के सम्बन्ध में यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कांग्रेस पार्टी के केन्द्रीय व राज्य स्तरों पर धनी व सम्पन्न जोतदारों की बहुत चलती है, खासतौर से चुनाव के दिनों में। यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जिन पर हदबन्दी का असर पड़ेगा, फिर भी स्थानीय सत्ता-केन्द्रों पर उनका प्रभाव बहुत अधिक है...तथाकथित 'वोट-बैंक' उन लोगों के ही आधीन हैं जिसका प्रमाण यह है कि पंजाब विधान सभा में 64 सदस्यों में से 45 ऐसे हैं जो बड़े जोतदार माने जाते हैं और हरियाणा में 52 में से 30 सदस्य इसी श्रेणी के हैं। मध्य प्रदेश में 220 कांग्रेस विधायकों में से 96 के बारे में कहा जाता है कि उनके पास घोषित सीमा से अधिक भूमि है। कई अन्य राज्यों में भी लगभग यही अनुपात मिलेगा।"

योजना आयोग ने 1972 में भूमि-सुधार आयुक्त पी० एस० अप्पू की अध्यक्षता में इसलिए एक कार्यकारी दल नियुक्त किया कि वह पिछली दो योजनाओं के दौरान भूमि-सुधारों का विवेचनात्मक मूल्यांकन कर सके। वह दल भी इसी नतीजे पर पहुंचा और उसने सरकार को चेतावनी दी कि "अपेक्षित राजनीतिक इच्छा के अभाव में भूमि-सुधार के कार्य में कोई प्रगति नहीं होगी।" (रिपोर्ट : मार्च, 1973)

कांग्रेस के नेता 1950 से ढोल पीट रहे हैं कि गांव के ग़रीबों व भूमिहीनों की समस्या का एक मात्र हल जोतों की हदबन्दी है जिससे बड़े जोतदार होशियार हो गये। नतीजा यह हुआ कि जब तक इस सम्बन्ध में क़ानून बनते व लागू किये जाते तब तक बड़े जोतदारों ने बहुत कुछ अपनी अतिरिक्त भूमि को या तो कुछ ले-देकर अजनबियों के नाम हस्तान्तरित कर दिया, या बेनामी हस्तांतरण कर दिया, या अपने नातेदारों के नाम फ़र्जी बंटवारा कर दिया।

जो भी हो, यह विश्वास भ्रामक सिद्ध हुआ कि हदबन्दी के बाद मिली अतिरिक्त भूमि को हरिजनों, भूमिहीनों व छोटे-छोटे खेतिहरों को बांटकर ग्रामीण समाज की ग़रीबी को प्रचुर मात्रा में दूर किया जा सकता है। चाहे जितनी कम सीमा निर्धारित की जाय, पुनर्वितरण के लिए जो भूमि उपलब्ध होगी वह इतनी थोड़ी होगी कि सभी अथवा उनके पर्याप्त भाग की ज़रूरतों के लिए पूरी नहीं होगी।

न केवल खेतिहर मजदूरों बल्कि करोड़ों बेरोज़गार या अल्परोज़गार वाले लोगों की आर्थिक समस्या का अन्तिम हल तो मोटे तौर पर ग़ैर-कृषि साधनों के विकास पर निर्भर हैं और यह विकास कृषि के उत्पादन को बढ़ाकर तथा राष्ट्रीय मनोभाव को बदल कर ही किया जा सकता है। भूमि के पुनर्वितरण से हमें समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए समय भले ही मिल जाय लेकिन पुनर्वितरण के झमेले में पड़कर रोग की वास्तविक चिकित्सा की ओर से हमें ध्यान नहीं हटाना चाहिए।

जनता पार्टी व सरकार को ऐसे हालात पैदा करने चाहिए कि वे सभी जो बेरोज़गार हैं, अल्परोज़गार वाले हैं, खेतिहर मजदूर हैं, छोटी-छोटी जोतों वाले हैं—और पढ़े-लिखे बेरोज़गार भी—कुटीर व लघु उद्योगों तथा अन्य छोटे कृषीतर उद्यमों की ओर आकर्षित हो सकें।

चकबन्दी व सेवा सहकारिता

सहकारी या किसी अन्य प्रकार की साझे की खेती को यदि छोड़ दिया जाय तो खेतिहर संगठन के क्षेत्र में केवल एक ही काम करना बाकी रह जाता है अर्थात् जोतों की चकबन्दी। इस पर विचार करने और काम करने की

आवश्यकता है। हमें यहाँ चकबन्दी के पक्ष में कोई दलील देने की जरूरत नहीं है। संक्षेप में इतना कहना ही काफ़ी है कि बिखरी हुई जोतों का एक चक बना देने से उत्पादन के तीनों कारकों अर्थात् भूमि, श्रम व पूँजी का कारगर ढंग से उपयोग किया जा सकता है।

चकबन्दी से केवल बिखरी हुई जोतों की समस्या हल होती है। यह सीमान्त (छोटी) या अलाभकर (घाटे की) जोतों की समस्या का हल नहीं है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है और कृषीतर उद्यमों का अभाव बना रहता है, अलाभकर जोतों की संख्या बढ़ती जाती है—इन जोतों पर एक औसत आकार के परिवार के लिए पूरा काम नहीं होता और ये जोतें एक परिवार को सुविधा-पूर्वक रहने के साधन तो दूर रहे, पेट-भर खाना व तन ढँकने को पूरा कपड़ा भी नहीं दे पाती हैं।

यह पहले भी कहा चुका है कि खेतों के स्वामित्व को साझे की खेती में बदलना ऐसा संगठनात्मक परिवर्तन है जिसका हर जगह खेतिहर विरोध करते हैं। साझे की खेती से न उत्पादन बढ़ता है, न बेरोज़गारी घटती है और न जन-तन्त्रीय व्यवहार सुदृढ़ होता है। और फिर ऐसे तकनीकी सुधार व सुविधाएँ हैं जिनका खेतिहर स्वागत करेंगे—जैसे सिंचाई, पानी की व्यवस्था, अच्छा खाद, उन्नत बीज, कीटाणुनाशक दवाएँ और आमतौर से खेती के अच्छे उपाय। इनसे उत्पादन बढ़ता है और खेतिहर की आय भी। इनको आसानी से छोटी और बड़ी जोतों पर इस्तेमाल किया जा सकता है। इन सुविधाओं के प्रयोग के लिए बड़े पैमाने के फ़ार्म होना जरूरी नहीं और खेत छोटा हो तो भी तकनीकी प्रगति में कोई बाधा नहीं पड़ती।

हमें केवल इतना करने की जरूरत है कि निजी स्वामित्व व स्वयं भूमि के उपयोग की अभिप्रेरणाओं को बड़े फ़ार्म के लाभों के साथ जोड़ दें। हमारे देश में जोतें छोटी हैं और छोटी रहेंगी। सहकारिता के सिद्धान्त से ही उनकी समस्या हल हो सकती है। सहकारिता का अर्थ है अन्यथा स्वतन्त्र इकाइयों का घनिष्ठ एका—विभिन्न स्वतन्त्र जोतों का केवल एक साथ जमा किया जाना—ताकि उस हानि से बचा जा सके जो अलग व अकेले रहकर काम करने से होती है। सहकारिता का वास्तविक उद्देश्य है, पहले तो जोतों का आकार छोटा होने तथा व्यावसायिक सभ्यता के तौर-तरीकों से अपरिचित होने से जो अयोग्यताएँ उत्पन्न होती हैं, उनसे किसानों की रक्षा करना, और दूसरे निजी सम्पत्ति की सभी भलाइयाँ व तकनीकी लाभों को किसानों को उपलब्ध कराना। सहकारिता का विस्तार खेती अथवा उत्पादन की क्रिया तक करने की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् खेत-प्रबन्ध के उन कार्यों का सहकारीकरण करने की जरूरत नहीं जो एक छोटे खेत की सीमा के अन्दर किये जा सकते हैं। ऐसे कार्य तो स्वतन्त्र रूप से किसान स्वयं

करेगा—यदि सहकारी समिति या संगठन के सदस्य अपनी आर्थिक व निजी स्वतन्त्रता का बलिदान करेंगे तो वह विलयन होगा, सहकारिता नहीं।

होरेस प्लन्केट फ़ाउण्डेशन के अध्यक्ष डॉ० सी० आर० फे ने 1943 में कहा था, "उत्तरी यूरोप ने पूरी तरह सिद्ध कर दिया है कि तकनीकी उत्कर्ष की चरम सीमा भी पारिवारिक खेती में पूरी तरह से प्राप्त की जा सकती है, परन्तु दो शर्तों पर—एक, भूमि-इकाई को राज्य विशेष संरक्षण प्रदान करे; दूसरे, खेत पर एक परिवार के श्रम के साथ-साथ ख़रीद, बिक्री व प्रक्रमण के लिए सामूहिक श्रम किया जाय।" इसलिए हमारी राष्ट्रीय नीति यह होनी चाहिए कि खेतिहरों को समझाया जाय कि सेवा सहकारिता को, अर्थात् वित्तीय साधनों को एकत्र करने व उत्पादन के अतिरिक्त सभी काम में सहयोग करने के लाभ क्या हैं। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि स्वतन्त्र अस्तित्व के खेत बनें जिन पर व्यक्तिगत ढंग से किसान काम करें, साथ ही सहकारिता के सिद्धान्त पर इन स्वतन्त्र हस्तियों की एक कड़ी बने। इसी प्रकार (आज हमारे देश में फैली) आर्थिक अराजकता से और (सोवियत रूस व चीन में थोपी गयी) सामूहिकता से बचा जा सकता है। जापान व पश्चिमी यूरोप में ऐसी ही व्यवस्था है जिसमें खेत व खेतिहर की अलग-अलग पहचान पर आँच नहीं आती। ऐसी व्यवस्था में प्रति एकड़ उत्पादन उन व्यवस्थाओं से अधिक होता है जिनमें भूमि, इसलिए श्रम भी, एक में मिला दिये गये हैं। ऐसी व्यवस्था से ही जनतन्त्र को सुदृढ़ बना सकने वाला खेतिहर-संगठन बन सकता है। इसके विपरीत सामूहिकता का—उसे किसी भी नाम से पुकारा जाय—हमारे देश में वही लोग प्रचार करते हैं जिनको किसान के पास जाने, उसे अपनी बात मानने के लिए राज़ी करने की अपनी क़ाबलियत पर शुबहा है। जब लाखों-करोड़ों खेतिहरों को थोड़ी-सी सहकारी संस्थाओं व साझे के उद्यमों में भेड़-बकरियों की तरह हाँककर जमा कर दिया जाय तो उनका प्रबन्ध करना आसान होता है। यह लोग कम्युनिस्टों के तौर-तरीक़ों की नक़ल करना तो बहुत चाहते हैं लेकिन हालात ऐसे हैं कि उन्हें अपने असली इरादों को छिपाने के लिए जनतन्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करना पड़ता है।

जापान, जर्मनी, इंग्लैण्ड तथा स्कैण्डिनेवियन देशों की तरह सहकारी समितियाँ तभी सफल हो सकती हैं जब वे जनता की आकांक्षाओं के अनुसार जनता में से ही किसी सार्वजनिक आवश्यकता की पूर्ति अथवा समाधान के एक उपादान के रूप में निकलकर आयें। भारत के अतिरिक्त और किसी भी देश में सहकारी आन्दोलन सरकारी महकमे की तरह नहीं चलाया जाता है। हमारे राजनेताओं व आर्थिक योजनाकारों को समझ लेना चाहिए कि हमारी मानवीय कमियों की वजह से हमारे समाज में सहकारिता की जड़ें जमने में कई दशक लगेंगे। इसलिए बेहतर है कि इस सिलसिले में धीमे-धीमे क़दम उठाये जायें।

3

श्रम, पूंजी व नवीनीकरण

भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के दो अन्य कारक है : श्रम व पूंजी। इन दोनों कारकों के प्रयोग में वृद्धि से उत्पादन में भी वृद्धि होती है। जहां तक श्रम का सम्बन्ध है, वह एक परिवर्ती तत्व है और उसे बढ़ाया जा सकता है। लेकिन देश के बहुत-से भागों में खेती में पहले से ही आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए हैं, जिसका अर्थ है कि श्रम के उपयोग के वर्तमान स्तर पर कृषि उत्पाद में आवश्यकता से अधिक श्रम निहित है। दूसरे शब्दों में, हमारे गांवों के विशाल समूह में श्रम की सीमांतक उत्पादकता के शून्य होने की प्रवृत्ति है। इन क्षेत्रों में खेतिहर मज़दूर इस अर्थ में फालतू हैं कि उनको हटा दिया जाय या उनकी बदली कृषीतर उद्यमों में कर दी जाय तो कृषि उत्पादन पर या तो कोई असर नहीं पड़ेगा और पड़ा भी तो केवल सीमांतक। इन क्षेत्रों में इस अतिरिक्त श्रम को खेतों में—अर्थात् उसी गांव में जहां अतिरिक्त श्रम है—पूरी तरह से लगाया जाय तो खेती की उत्पादकता अवश्य बढ़ेगी। इसके लिए कृषि के वर्तमान तरीक़ों व तकनीकों में परिवर्तन की आवश्यकता है। हाल की 'हरित क्रान्ति' का अनुभव बताता है कि (मशीनीकरण के अतिरिक्त भी) कुछ ऐसी तकनीकें हैं जिनके प्रयोग के लिए उससे अधिक श्रम की आवश्यकता होती है जितना आज किया जाता है। इन तकनीकों का प्रयोग आरम्भ करने से अधिकतर गांवों में अल्प-रोज़गारी की स्थिति तो दूर होगी ही, उत्पादन भी बढ़ेगा।

अधिकतर पूंजी मानव श्रम का ऐसा उत्पाद है जिसे आगे उत्पादन बढ़ाने में प्रयोग करने के लिए अलग रख दिया जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पूंजी पहले किये गये श्रम का ऐसा उत्पाद है जिसका तत्काल उपभोग नहीं किया गया। श्रम की तरह यह भी परिवर्ती तत्व है। पूंजी को एक प्रकार से अनिर्धारित

सीमा तक बढ़ाया जा सकता है—बशर्ते कि मनुष्य इतना त्याग करने के लिए तैयार हो कि वह अपने श्रम के उत्पाद के तुरन्त बाद उसका पूरा-पूरा उपभोग न करे। वह साधन भी जिनके ज़रिये कृषि में उत्पादन होता है जैसे पशु, उपादान व यंत्र, अन्य प्रसाधन, बीज, पानी, सिंचाई के साधन, खाद व उर्वरक, कीटाणुनाशक दवाएँ—पूंजी में ही गिने जा सकते हैं।

भूमि, श्रम व पूंजी में वृद्धि के साथ-साथ कृषि उत्पादन खेती की तकनीक अथवा कला में सुधार व नवीनीकरण पर भी निर्भर है। नवीनीकरण की व्याख्या करनी हो तो उसे उत्पादन की प्रक्रिया में किसी भी पुराने अथवा नये ज्ञान का नया प्रयोग करना कहा जा सकता है। उसका उद्देश्य है उत्पादन के तीन कारकों को पहले से बेहतर ढंग से जोड़ा जाना, ताकि उपलब्ध संसाधनों से अधिकतम लाभ उठाया जा सके।

इसलिए हम यदि देश का आर्थिक विकास करना चाहते हैं, जिसका अर्थ है कि मनुष्य को कृषि से हटाकर उद्योग, वाणिज्य, परिवहन तथा अन्य कृषीतर व्यवसायों में लगाना चाहते है, तो यह उसी हद तक होगा जिस हद तक कम-से-कम आदमियों को खेती में लगाकर उसका उत्पादन ज्यादा-से-ज्यादा किया जाय। इसके लिए जरूरी है कि भूमि में पूंजी उससे कहीं अधिक मात्रा में लगायी जाय और कृषि में तकनीकी सुधार उससे कहीं अधिक तेज़ गति से किया जाय जिसकी हमने अभी तक कल्पना की है या योजना बनायी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, भारत का आर्थिक विकास किस हद तक होगा यह इस पर निर्भर है कि हम किस हद तक कृषि कार्यों में सुधार कर सकते हैं व किस मात्रा में भूमि में पूंजी लगा सकते हैं।

सिंचाई व उर्वरकों में पूंजी लगाने की आवश्यकता के साथ-साथ अनुसंधान की भी आवश्यकता है। खेतिहर के लिए सबसे अधिक प्रभावशाली अभिप्रेरणा बीज, जल अथवा सिंचाई प्रबन्ध, उर्वरकों के प्रयोग आदि के सम्बन्ध में अनुसंधान से ही मिल सकती है।

कृषि में पूंजी का अभाव

भारत सरकार बराबर खेती को प्राथमिकता देने की बात कहती आयी है और उत्पादन के लक्ष्य भी बहुत ऊँचे निर्धारित करती आयी है। लेकिन हमारी योजनाओं में कृषि के लिए बहुत कम सार्वजनिक परिव्यय की व्यवस्था की जाती रही है और निजी पूंजी लगाने के लिए बिलकुल नहीं या बहुत कम अभिप्रेरणाएं दी गयी हैं। कोई यदि कहे कि कृषि को जान-बूझकर पूंजी से वंचित रखा गया है तो यह सच ही होगा। दुनिया में कोई ऐसी चीज नहीं है जिसके लिए सरकार के पास धन न रहा हो, लेकिन कृषि के लिए नहीं रहा। नतीजा यह है कि 1951 से

1973 तक कृषि के उत्पादन में तो 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से 75 प्रतिशत की वृद्धि हुई लेकिन इसी दौरान औद्योगिक उत्पादन 3.6 गुना बढ़ गया—1960 को 100 मानकर औद्योगिक उत्पादन सूचक 1951 में 54.8 था जो 1973 में 200.8 हो गया, अर्थात् हर वर्ष 12 प्रतिशत (साधारण) वृद्धि हुई। ऐसे बहुत कम औद्योगिक देश हैं जिनकी वृद्धि की गति इतनी तेज़ हो—भारत में वृद्धि की गति बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, नार्वे, स्वीडन, इंग्लैण्ड व अमेरिका की तुलना में 1.1 गुना से लेकर 3.2 गुना तक है।

आगामी पृष्ठों पर दी गयी तालिका से मालूम होगा कि 1961-62 की क़ीमतों को स्थिर मानकर, उन क़ीमतों के अनुसार, विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत वास्तविक परिव्यय कितने रहे। इस तालिका से मालूम होगा कि तीसरी (1961-66) और चौथी (1969-74) योजनाओं में आठ साल का अन्तर होने पर भी, दोनों में लगभग बराबर रक़म लगायी गयी। चालू क़ीमतों के आधार पर सरकारी प्रकाशनों में दिये गये गगनचुम्बी आंकड़ों से लगता है कि अन्धाधुंध व्यय किया जा रहा है लेकिन उससे भोले-भाले लोग गुमराह हो जाते हैं, चाहे इरादा उनको गुमराह करने का न रहा हो।

इन आंकड़ों से मालूम होगा कि निवेश के परिरूप में दूसरी योजना के बाद से, जो अप्रैल 1956 में आरम्भ की गयी थी, कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, यद्यपि इस दौरान देश की खाद्य स्थिति और भी बिगड़ गयी है। कृषि के लिए परिव्यय पहली योजना में 37 प्रतिशत था, जिसे दूसरी योजना में घटाकर 17.3 प्रतिशत कर दिया गया था, और उसके बाद से कभी 23.4 प्रतिशत से आगे नहीं बढ़ा, जबकि संगठित उद्योग व खदान में निवेश पहली योजना में 4.5 प्रतिशत था जिसे बढ़ाकर दूसरी योजना में 23.8 प्रतिशत कर दिया गया और उसके बाद से 23.7 प्रतिशत से नीचे नहीं हुआ।

उद्योगों व खदानों के लिए परिव्यय 1974-75 की वार्षिक योजना में 22.6 प्रतिशत था जिसे बढ़ाकर 1975-76 की वार्षिक योजना में 27.5 प्रतिशत कर दिया गया। लेकिन कृषि (जिसमें सिंचाई शामिल है) का परिव्यय 21.1 प्रतिशत से घटाकर 19.4 प्रतिशत कर दिया गया। 1976-77 की वार्षिक योजना में उद्योगों व खदानों के लिए 27.8 प्रतिशत और कृषि के लिए 20.16 प्रतिशत है। इस प्रकार 1975-76 में उद्योग का परिव्यय कृषि से 41.81 प्रतिशत अधिक था और 1976-77 में 38 प्रतिशत अधिक—यह अनुपात पहले कभी नहीं था।

कृषि की आवश्यकताओं को न समझ पाने का एक उदाहरण यह है कि देश की लगभग एक-चौथाई भूमि में कटाव हो रहा है लेकिन 1951 से 1973 तक भूमि-संरक्षण पर कुल 47.05 करोड़ की मामूली-सी रक़म खर्च की गयी।

सार्वजनिक क्षेत्र में योजना व्यय : 1951-52 से 1975-76 तक

(अर्थात् केन्द्र, राज्यों व संघ-शासित क्षेत्रों द्वारा किया गया व्यय)

विकास के मुख्य शीर्षों के अनुसार

(करोड़ रुपयों में)

अवधि/वर्ष	1961-62 के मूल्यों के आधार पर					
	कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र	सिंचाई तथा बाढ़नियन्त्रण	बिजली	कुटीर व लघु उद्योग	उद्योग व धातु खनिज	कुल जोड़
1	2	3	4	5	6	7
पहली योजना						
1951-52	32.09		91.21		11.62	284.03
1952-53	37.52		122.39		11.75	334.83
1953-54	55.02		133.40		21.96	410.33
1954-55	97.29		168.69		27.61	610.94
1955-56	147.21		214.87		50.00	830.73
कुल जोड़ : 1951-56	369.13		730.56		122.94	2,470.86
	(14.94)		(29.57)		(4.98)	(100.00)

1	2	3	4	5	6	7
दूसरी योजना						
1956-57	81.96		193.02		96.82	751.58
1957-58	98.99		185.65		262.15	1,019.83
1958-59	121.02		182.60		309.69	1,110.24
1959-60	133.41		188.64		287.23	1,079.60
1960-61	140.42		201.30		219.00	1,073.18
कुल जोड़ : 1956-61	575.80		951.21		1,174.89	5,034.43
	(11.44)		(18.89)		(23.34)	(100.00)
तीसरी योजना						
1961-62	148.15	106.00	139.49	38.13	197.71	1,130.26
1962-63	167.39	110.36	175.73	38.73	249.26	1,334.82
1963-64	188.31	110.61	235.97	39.68	315.37	1,555.04
1964-65	206.12	121.93	250.23	42.21	332.61	1,647.39
1965-66	233.61	132.67	275.78	43.16	399.54	1,772.26
कुल जोड़ : 1961-66	943.58	581.56	1,077.20	201.91	1,494.49	7,439.77
	(12.68)	(7.82)	(14.84)	(2.71)	(20.09)	(100.00)

वार्षिक योजनाएँ						
1966-67	222.99	99.66	269.31	28.69	343.04	1,443.97
1967-68	187.46	86.72	236.81	25.47	281.31	1,246.22
1968-69	277.62	106.71	249.45	24.49	317.77	1,436.49
कुल जोड़ : 1966-69	688.07	293.09	755.57	78.65	942.12	4,126.68
	(16.67)	(7.10)	(18.31)	(1.91)	(22.83)	(100.00)
चौथी योजना						
1969-70	193.88*	112.65	273.72	23.48	259.21	1,287.82
1970-71	206.74*	115.79	283.99	23.74	256.82	1,393.43
1971-72	253.71*	131.53	321.50	25.69	313.53	1,661.52
1972-73	276.19*	154.76	316.66	26.70	303.38	1,799.76
1973-74	221.60*	150.59	269.94	21.87	289.34	1,647.44†
कुल जोड़ : 1969-74	1,152.12	665.32	1,465.81	121.48	1,422.28	7,789.97
	(14.79)	(8.45)	(18.82)	(1.56)	(18.26)	(100.00)
पाँचवीं योजना						
1974-75 (परिव्यय)	203.96	123.10	244.92	21.98	349.30	1,547.51
	(13.18)	(7.96)	(15.83)	(1.42)	(22.57)	(100.00)
1975-76 (परिव्यय)	228.34	154.63	363.80	24.40	542.94	1,974.27
	(11.57)	(7.83)	(18.43)	(1.24)	(27.50)	(100.00)

*इसमें सुरक्षित भण्डार शामिल है।

†इसमें पौष्टिक ग्राहार-व्यवस्था का व्यय शामिल नहीं है।

नोट : कोष्ठक में दिये गये ग्रांकड़े उस ग्रवधि के कुल योजना-व्यय में संगत शीर्ष का प्रतिशत ग्रंश बताते हैं।

यह याद रखना चाहिए कि भूमि-संरक्षण यदि भूमि उपयोग अथवा फ़सल पैदा करने से अधिक नहीं तो उसके बराबर ही महत्त्वपूर्ण है।

भूमि-संरक्षण पर हर योजना में निम्न प्रकार खर्च हुआ :

भूमि-संरक्षण पर व्यय

करोड़ रुपयों में

पहली योजना	0.36
दूसरी योजना	2.07
तीसरी योजना	11.21
वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	9.45
चौथी योजना	23.96
कुल जोड़	47.05

स्रोत : राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट, भाग पाँचवाँ, 1976, पृ० 392

कृषि व उद्योग, गाँव व शहरों के लिए किये गये आवंटनों का अनुपात सही-सही निकालने के लिए यह जरूरी है कि बिजली, शिक्षा, चिकित्सा सुविधाएँ, सड़कों व परिवहन पर हुए कुल व्यय के बारे में यह जानकारी हो कि कितना गाँवों में व कितना शहरों में खर्च हुआ और उन आँकड़ों को कृषि व उद्योग के परिव्यय में जोड़ा जाय। लेकिन बिजली को छोड़कर इन क्षेत्रों में हुए निवेश के आँकड़े हमारे पास नहीं हैं। आगामी पृष्ठ की तालिका से मालूम होगा कि 1974-75 में देश में पैदा की गयी कुल बिजली का 12.31 प्रतिशत कृषि के उपयोग में आया जबकि उद्योगों ने 65.69 प्रतिशत इस्तेमाल किया।

"पश्चिमी देशों के बराबर पहुँचने" की हमारी आकांक्षा ने देश को कहाँ पहुँचा दिया है, इसके कुछ निश्चित उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त नहीं होगा। हालाँकि चौथी योजना के अन्त में इस्पात का उत्पादन उतना ही था जितना उसके आरम्भ में—वर्तमान क्षमता से कम-से-कम 30 प्रतिशत कम—फिर भी सब ठीक-ठाक रहता तो योजना आयोग 1974-79 में वर्तमान इस्पात के कारखानों का विस्तार करने तथा नये कारखाने बनाने पर 2,800 करोड़ रुपये की चौंका देने वाली रक़म खर्च करना चाहता था। उसने पाँचवीं योजना के अन्तर्गत विजयनगर (कर्नाटक) में 753 करोड़ रुपये की लागत के और विशाखापट्टनम (आन्ध्र प्रदेश) में 747 करोड़ रुपये की लागत के कारखानों के लिए 'प्रारम्भिक

उपभोग की श्रेणियों के अनुसार बिजली की खपत
1950 से 1974-75 तक

(दस लाख किलोवाट में)

वर्ष	घरेलू	वाणिज्यिक	संकर्षण	औद्योगिक	सार्वजनिक रोशनी	कृषि के लिए सिंचाई	जल-कल	विविध	कुल जोड़
1950	525 (9.33)	309 (5.49)	308 (5.48)	4,073 (72.39)	60 (1.07)	162 (2.88)	189 (3.36)		5,625 (100)
1955	850 (9.14)	514 (5.53)	403 (4.34)	6,882 (74.04)	106 (1.14)	255 (2.74)	285 (3.07)		9,296 (100)
1960-61	1,492 (8.70)	848 (4.95)	454 (2.65)	12,883 (75.17)	193 (1.13)	833 (4.86)	436 (2.54)		17,139 (100)
1965-66	2.355 (7.70)	1,650 (5.40)	1,057 (3.46)	22,711 (74.29)	280 (0.92)	1,892 (6.19)	625 (2.04)		30,570 (100)
1970-71	3,840 (7.82)	2,573 (5.24)	1,364 (2.78)	34,963 (71.19)	500 (1.02)	4,470 (9.10)	1,016 (2.07)	382 (0.78)	49,108 (100)
1974-75	5,163 (8.73)	3,210 (5.43)	1,621 (2.74)	38,856 (65.69)	506 (0.85)	7,579 (12.81)	1,213 (2.05)	1,007 (1.70)	59,155 (100)

टिप्पणी : कोष्ठकों में दिये गये आँकड़े उस श्रेणी द्वारा सम्बन्धित वर्ष में कुल उपभोग की गयी बिजली के प्रतिशत अंश बताते हैं।

स्रोत : भारत सरकार, योजना मंत्रालय के डिपार्टमेंट ऑफ़ स्टैटिस्टिक्स, सेंट्रल स्टैटिस्टिकल आर्गनाइज़ेशन द्वारा प्रकाशित बेसिक स्टैटिस्टिक्स रिलेटिंग टू द इण्डियन इकनॉमी (विभिन्न अंक)।

कार्य' की मद में 450 करोड़ रुपये की रक़म रखी थी। योजना आयोग जानता था कि इन दोनों कारखानों में ऊँची लागत का इस्पात तैयार होगा और ये कारखाने कभी अपना खर्च नहीं निकाल पायेंगे। सच तो यह है कि बन जाने पर इन कारखानों में उनकी क्षमता-भर उत्पादन होता तो भी उनको 125 करोड़ रुपये प्रति वर्ष का हमेशा घाटा होता।

लेकिन जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है सार्वजनिक क्षेत्र के निवेशों से अधिक निजी क्षेत्र के निवेश महत्त्वपूर्ण हैं। कृषि के लिए निजी क्षेत्र के निवेश अधिकतर सहकारी संस्थाओं, पेशेवर महाजनों, रिश्तेदारों, व्यापारियों, कमीशन एजेंटों, जमींदारों, व्यावसायिक बैंकों आदि के जरिये आते हैं। आँकड़ों से मालूम होता है कि निजी क्षेत्र के कुल निवेशों में से दूसरी योजना में 20.2 प्रतिशत, तीसरी में 19.5 प्रतिशत और चौथी में 17.8 प्रतिशत कृषि के लिए आये। इसका मतलब है कि निजी क्षेत्र के निवेशों में भी कृषि की उपेक्षा की गयी। सरकारी नीति के कारण विनिर्माण उद्योगों को दोनों क्षेत्रों में बढ़ावा दिया जाता है।

कृषि उत्पाद की क़ीमतें

कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए अनुसंधान व प्रौद्योगिक नवीनीकरण के बाद सबसे निर्णायक शर्त यह है कि खेतिहर को अभिप्रेरणाएँ मिलती रहें। लेकिन पिछली सरकार कृषि के लिए वित्तीय परिव्ययों की तरह अभिप्रेरणाओं के सम्बन्ध में भी स्थिति की वास्तविकताओं का मूल्यांकन करने में बुरी तरह असफल रही। शहरी आबादी व कमी के क्षेत्रों को सस्ता भोजन मुहैय्या करने की उसकी नीति के फलस्वरूप कृषि उत्पादन बढ़ने के बजाय घटा है।

शहरी व सरकारी क्षेत्रों में यह विश्वास फैला हुआ है कि किसानों को उनके उत्पादन के लिए इतनी क़ीमत मिल जाय कि जिससे उनकी लागत पूरी हो जाय व उनको 'उचित' मुनाफ़ा मिल जाय, तो उन्हें शिकायत की कोई गुंजायश नहीं रहेगी। कृषि उत्पाद की क़ीमतों के बारे में सरकार को सिफ़ारिश भेजने में 'कृषि क़ीमत आयोग' (कृ० की० आ०) इसी आधार पर हिसाब लगाता है। क़ीमतों के उतार-चढ़ाव के बारे में गेहूं के उत्पादकों की प्रतिक्रिया से पता चलता है कि खेतिहर भी सापेक्ष क़ीमतों व मुनाफ़े का ध्यान रखता है। यदि लागत से कुछ अधिक क़ीमत देने के सिद्धान्त से किसान को गेहूँ पैदा करने में दूसरी फ़सलों की अपेक्षा कम मुनाफ़ा होता है तो अन्य समझदार व्यवसायियों की तरह वह भी गेहूँ पैदा करने वाली भूमि पर दूसरी फ़सलें पैदा करेगा—और ऐसा करने का उसे हक़ है।

अक्सर यह दलील दी जाती है कि किसानों को अधिक क़ीमत देने से मुद्रा-स्फीति होगी। लेकिन यह सरकारी दलील भ्रामक है—इस दलील में कारण

व परिणाम में अन्तर न समझने की ग्राम ग़लती निहित है। खाद्यान्न की ऊँची ीमतें स्वयं मुद्रा-स्फीति का परिणाम हैं और मुद्रा-स्फीति का कारण यह है कि रकार अर्थव्यवस्था में अनुपात से ज्यादा मुद्रा का चलन बढ़ाती रही है।

निवेदन यह है कि खाद्यान्न की कमी की स्थिति का सामना करने के लिए कोई और अच्छा उपाय न हो तो (क) अपेक्षाकृत बड़े जोतदारों से—जिनके पास तीन हेक्टर या साढ़े सात एकड़ से अधिक भूमि हो—उनकी पैदावार के एक अंश की, जो किसी भी हालत में 60 प्रतिशत से अधिक न हो, 'समता-क़ीमत' पर क्रमबद्ध ढंग से अनिवार्य-अधिप्राप्ति की जाय और शेष फ़सल उनके पास छोड़ दी जाय जिसे वे व्यापारियों को बेच सकते हैं—ऐसे ही, छोटे जोतदारों को भी अपनी फ़सल व्यापारियों के जरिये बेचने की छूट रहनी चाहिए; और (ख) खाद्यान्न की पूर्ति सारी शहरी जनसंख्या के लिए न की जाय बल्कि केवल उनके लिए की जाय जो राष्ट्रीय औसत या अपने प्रदेश की औसत आय से कम कमाते हैं, और इस प्रकार के वितरण के लिए क़ीमत तय करने में आवश्यकता हो तो सरकारी सहायता शामिल की जा सकती है।

लेकिन उपरोक्त सुझाव तो अभी तक कुछ कांग्रेस-शासित प्रदेशों में चल रही व्यवस्था को सुधारने के लिए हैं। नीचे एक दूसरी योजना सुझायी जा रही है जिसे हाल ही में एक सहयोगी, कृषि के राज्य-मन्त्री भानुप्रताप सिंह ने तैयार किया है और जो सभी सम्बन्धित पक्षों के अर्थात् उत्पादक, उपभोक्ता, व्यापारी व सरकार के हितों को सन्तुष्ट करती है :

(1) सिवाय उस स्थिति के जब बहुत ही कमी हो, खाद्यान्न का आयात बिलकुल न किया जाय।

(2) सारे देश को खाद्यान्न के लिए एक ही क्षेत्र मान लिया जाय—दूसरे शब्दों में खाद्यान्न को देश के एक भाग से दूसरे भाग में लाने-ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध न हो।

(3) किसी एक वर्ष को आधार-वर्ष मानकर उस वर्ष में खेतिहर अपने उत्पाद की जो क़ीमत पाता है और उस सामान की क़ीमत को लेकर जो वह खरीदता है, दोनों का अनुपात निकाला जाय और इस अनुपात से नापा जाय कि किसी वस्तु की क़ीमत उपभोक्ता अथवा उत्पादक के लिए उचित है अथवा अनुचित। इस तरह निर्धारित दर को 'समता-क़ीमत' माना जाय।

(4) मुख्य खाद्यान्नों की 'समता-क़ीमत' निर्धारित करके सरकार को यह घोषणा कर देनी चाहिए कि वह खाद्यान्न व्यापार में कोई हस्तक्षेप तब तक नहीं करेगी जब तक 'समता-क़ीमत' के 85 प्रतिशत व 115 प्रतिशत

के बीच में व्यापार चलता है। 85 प्रतिशत को 'न्यूनतम' क़ीमत व 115 प्रतिशत को 'अधिकतम' क़ीमत कहना चाहिए।

(5) जब किसी खाद्यान्न का भाव 'न्यूनतम' क़ीमत से नीचे गिरे तो सरकार सीधे-सीधे उत्पादक से खाद्यान्न 'न्यूनतम' क़ीमत पर खरीद लेगी।

(6) जब भाव 'अधिकतम' क़ीमत से अधिक हो जाय तो सरकार को यह अधिकार होगा कि जिसके पास भी, चाहे वह जोतदार हो चाहे व्यापारी, खाद्यान्न का भण्डार होगा उससे उसके परिवार की आवश्यकता-भर छोड़कर पूरा ग़ल्ला 'समता-क़ीमत' पर खरीद ले।

(7) छोटे जोतदारों द्वारा आपात विक्री को रोकने के लिए सभी विकास केन्द्रों में गोदाम बनाने चाहिए (एक विकास क्षेत्र के अन्तर्गत औसतन लगभग 26,000 एकड़ कृषि-योग्य भूमि होनी चाहिएँ)। इन गोदामों में छोटा जोतदार अपनी पैदावार रख दे और उसे तुरन्त ही 'न्यूनतम' क़ीमत के आधार पर भुगतान कर दिया जाय। उसे यह अधिकार होगा कि बाद में वह अपना ग़ल्ला गोदाम से लेकर अधिक दाम पर खुले बाज़ार में बेच सके परन्तु उसे जो गोदाम से पहले क़ीमत मिली थी वह मय ब्याज तथा गोदाम-भाड़े के वापस करनी होगी। लेकिन यदि खुले बाज़ार में भाव 'समता-क़ीमत' के 115 प्रतिशत से अधिक बढ़ जाय तो सरकार को अधिकार होगा कि उसका ग़ल्ला 'समता-क़ीमत' पर ले ले और उसे शेष का (अर्थात् 'समता-क़ीमत' व न्यूनतम क़ीमत के अन्तर का) भुगतान कर दे।

खाद्यान्न व्यापार की उपरोक्त योजना के अनुसार (क) जोतदार को इत्मीनान रहेगा कि उसे न्यूनतम क़ीमत तो मिल ही जायगी जो 'समता-क़ीमत' के 85 प्रतिशत से कम नहीं होगी; (ख) उपभोक्ता को इत्मीनान रहेगा कि उसे 'अधिकतम' क़ीमत से कम भाव पर खाद्यान्न मिल ही जायगा—अधिकतम क़ीमत 'समता-क़ीमत' के 115 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी; (ग) व्यापारी को इत्मीनान रहेगा कि यदि वह 'समता-क़ीमत' के 85 प्रतिशत व 115 प्रतिशत की सीमा में रहकर धंधा करने का अनुशासन स्वीकार करता है तो उसे अपना व्यापार करने का अवसर मिलेगा; (घ) छोटे जोतदार को, जो अपनी पैदावार को अपने पास रख नहीं सकता, यह आश्वासन रहेगा कि यदि वह उसे गोदाम में रख दे तो बाज़ार में भाव बढ़ने पर अपनी फ़सल अच्छे दाम पर बेच सकता है; और (च) सरकार को यह इत्मीनान रहेगा कि बाज़ार भाव अधिकतम क़ीमत से ज्यादा हो जाय तो उसे मालूम है कि खाद्यान्न कहाँ रखा हुआ है और वहाँ से 'समता-क़ीसत' पर अधिप्राप्ति कर सकती है।

किसानों के शुभचिन्तकों का कहना है कि यदि क़ीमतों को इतने गिरने की छूट रहे कि वे अलाभकर हो जायें तो कृषि-विकास की सर्वोत्तम तकनीकी व प्रशासकीय व्यवस्था से भी अपेक्षित परिणाम नहीं निकल सकते। बहुत हद तक मौसम की अनिश्चितता की वजह से पैदावार में बहुत कमी-बेशी होती रहती है। इसलिए कृषि की पैदावार को मांग के अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। (अन्य उत्पादों की अपेक्षा खेती की पैदावार की क़ीमतों को बहुत अधिक घटाने-बढ़ाने की गुंजायश भी नहीं रहती।) खेती की यही विशेषता किसान की ग़रीबी का मुख्य कारण है। इसलिए कहा जाता है कि सरकार द्वारा दी गयी अन्य सहायता की अपेक्षा क़ीमतों की रोकथाम तथा न्यूनतम मूल्य का आश्वासन किसान के लिए लाभप्रद होगा।

क़ीमतों को सहारा देने के पक्ष में उपरोक्त दलील किसानों को बहुत पसन्द आती है। हमारी राय है कि थोड़े व निश्चित समय के लिए या कुछ खास फ़सलों के लिए (जैसे पटसन, कपास, मूंगफली और गन्ना) क़ीमतों को रोकने की बात तो सोची जा सकती है, लेकिन आमतौर से कीमतों को सहारा देने की कोई भी कारगार नीति भारत में चल नहीं सकती। क़ीमतों को सहारा देने का विचार पश्चिमी देशों से यहां आया है। वहां दोनों विश्व-युद्धों के बीच के वर्षों में यह नीति चलायी गयी थी और इससे कृषि की पैदावार को बहुत लाभ भी हुआ था। कुछ देशों में, विशेष रूप से अमेरिका में, शान्ति काल में भी इस नीति के अनुसार काम होता रहा है। लेकिन वहां की अर्थव्यवस्था के सामने हमेशा ही अत्युत्पादन व आधिक्य की ऐसी जटिल समस्या बनी रहती है कि अनेक प्रकार के वित्तीय उपक्रमों से खेती की पैदावार की क़ीमतों को साधकर रखा जाता है ताकि खेतिहर को मुनाफ़ा हो सके और वह उसे अपने देश के विशाल उद्योगों के उत्पाद खरीदने के लिए इस्तेमाल कर सके।

खेती की पैदावार की क़ीमतों को सहारा देने या उसकी न्यूनतम क़ीमत निर्धारित करने का अर्थ है राष्ट्रीय कोष से धन खेतिहर समुदाय की जेबों में हस्तान्तरित कर दिया जाय। यह नीति वहां तो चल सकती है जहां खेतिहर समुदाय सारे देश की जनसंख्या का छोटा-सा भाग हो जैसा कि इंग्लैण्ड व अमेरिका में है जहां खेतिहर कुल जनसंख्या का 3 या 4 प्रतिशत हैं। वहां तो शेष 96 या 97 प्रतिशत जनसंख्या पर कर लगाकर ऐसे 3 या 4 प्रतिशत लोगों को सहायता दी जा सकती है जिनका ज़िन्दा रहना सारे राष्ट्र के हितों के लिए व भलाई के लिए आवश्यक है। लेकिन भारत में तो जोतदार व खेतिहर मजदूर मिलकर जनसंख्या का 70 प्रतिशत हैं। यहां उनको सहायता देने के लिए क़ीमतों को सहारा देने की नीति का अन्त में मतलब यह होगा, उन्हीं की जेब से निकालकर उनको दिया जाय क्योंकि बाजार भाव व न्यूनतम क़ीमत का जो

देशों को कृषि के उत्पाद का निर्यात किया जाय, (ख) हमारे देशवासी ही उसका अधिक उपभोग करें, (ग) फ़सलों की अभिरचना बदली जाय, (घ) देश के अन्दर ही उद्योगों में कृषि के उत्पादों का प्रयोग किया जाय, और (च) खेतिहर मजदूरों की संख्या कम की जाय।

यहाँ हम केवल पाँचवें सुझाव के बारे में विस्तार से लिखेंगे। सुझाव यह है कि खेतिहर मजदूर कृषीतर धंधों में लग जावें जैसा उन्होंने विकसित देशों में किया है। समुदाय की आवश्यकता से अधिक खेती की पैदावार होने से कृषि की क़ीमतें गिरना आवश्यक है, विशेष रूप से एक खुले जनतन्त्रीय समाज में। ऐसा मान लेना चाहिए कि देश के शुभचिन्तक, जो किसान से अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए कहते हैं, बराबर यह जानते होंगे कि एक प्रकार से वह इसी 'गिरावट' के लिए कह रहे हैं और काम कर रहे हैं। जब क़ीमतों में गिरावट आती है और बहुत दिन तक चलती है तो अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के अनुसार व निजी स्वार्थों के तकाज़ों के परिणामस्वरूप खेती में थोड़ी-सी आय पर काम करने वाले मजदूर ऐसे कृषीतर धंधों में लग जाते हैं जिनसे उन्हें पहले से कुछ अधिक आमदनी हो सके। जैसे-जैसे अधिकाधिक पूंजी लगने व उच्च से उच्चतर प्रौद्योगिकी का प्रयोग होने से प्रति एकड़ उत्पादन अधिक से अधिकतर होता जायगा, तो पहले के बराबर क्षेत्रफल से पहले जितना ही उत्पादन करने के लिए काम करने वालों की संख्या कम-से-कम होती जायगी। इसे कोई दुर्घटना नहीं समझना चाहिए। यह तो एक अपेक्षित परिणाम है क्योंकि जितने अधिक श्रम-जीवी कृषि छोड़ अन्य धंधों में लगेंगे उतनी ही अधिक सम्पत्ति देश में पैदा होगी, और जितनी अधिक सम्पत्ति पैदा होगी उतना ही हमारे लोगों का और स्वयं भूतपूर्व खेतिहर मजदूरों का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा।

जो लोग इंग्लैण्ड व अमेरिका का उदाहरण देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि उन देशों की समस्या यह है कि जो थोड़े-से लोग कृषि में लगे रह गये हैं, लगे रहें, जबकि भारत और सच पूछा जाय तो सभी अल्प-विकसित देशों की समस्या बिलकुल उल्टी है, अर्थात् श्रमिकों का कृषि से छुटकारा रुके नहीं। श्रम की उत्पादकता में स्पष्ट वृद्धि के साथ-साथ वस्तुओं की मांग पर सुदीर्घकालीन प्रति-बन्ध होने से किसी भी गतिशील समाज में या आर्थिक प्रगति के आकांक्षी समुदाय में कृषि से श्रमिकों को बहुत तेज़ी से छुटकारा मिलता है। इस प्रकार श्रमिकों की तबदीली अथवा रोजगार के विविधीकरण के साथ-साथ अतिरिक्त कृषि-उत्पादन की समस्या का हल होने लगता है। यही हमारी अर्थव्यवस्था का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

कृषीतर धन्धों से अधिक आय की सम्भावना होने पर भी किसान के लिए या किसान के बेटे के लिए अपने पूर्वजों का व्यवसाय छोड़ना सरल नहीं होता।

प्रश्न हैं : क्यों ? कुछ हद तक तो इसके कारण वही हैं जो कृषीतर धन्धों की अपेक्षा कृषि से आय कम होने के कारण हैं। हर देश में किसानों के लिए रोज़गार के दूसरे दरवाज़े आसानी से नहीं खुलते। अधिकतर किसानों के पास चल पूंजी (बचत व प्राप्य सम्पत्ति) का अभाव होता है जिसकी वजह से वे अपने गांव व अपनी खेती से बंधे रहते हैं। उनकी भूमि व मकान शीघ्र न बिक पाने वाली व अप्राप्य सम्पत्ति होते हैं। उनको लाभकारी क़ीमत पर हमेशा नहीं बेचा जा सकता—यह अलग बात है कि उनके साथ किसानों को भावुकतापूर्ण लगाव होता है। जब किसान खेती छोड़ कृषीतर धन्धे में लगता है तो पुराना धन्धा छूटने पर उसके मन में ऐसी हूक उठती है जिसका अनुभव उस मजदूर को नहीं होता जो एक कारखाने से काम छोड़कर दूसरे में नौकरी कर लेता है। किसान का तो उस ज़िन्दगी से जिसका अभी तक वह आदी था, बिलकुल नाता ही टूट जाता है।

किसान इसलिए भी खेती में लगा रहता है कि वह एक आत्मनिर्भर धन्धा है। उसको यह यक़ीन-सा रहता है कि कम-से-कम इतना तो पैदा कर ही लेगा जिससे उसकी व उसके परिवार की गुज़र हो जाय, और यह यक़ीन बहुत हद तक उसे आर्थिक स्थिति की बदलती प्रवृत्तियों से स्वाधीन रखता है व उसे काफ़ी अर्से तक आर्थिक शक्तियों की अवहेलना करके में मदद देता है। इसके अलावा भारत जैसे कुछ देशों में लोग खेती में इसलिए भी लगे रहते हैं कि आमतौर से उनके मन में अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की आकांक्षा ही नहीं जागती और जो किसान अपनी स्थिति सुधारने की सोचते भी हैं वे बेपढ़े होने व आधुनिक दुनिया के चलन से अपरिचित होने की वजह से यह नहीं जानते कि कहां व कैसे उन्नति के मार्ग मिल सकते हैं। इसके अलावा बहुत-से आदमियों के खेती में लगे रहने का एक कारण यह भी है कि उनको ग्रामीण जीवन कुछ अभौतिक सन्तोष प्रदान करता है—कम-से-कम ऐसा वे मानते हैं।

कृषि व कृषीतर आयों में अन्तर एक ऐसा आर्थिक अवयव है जो किसान को दूसरे धन्धों की ओर खींच सकता है। आय की दृष्टि से उद्योग व वाणिज्य में कृषि की अपेक्षा अधिक आकर्षण है। इंग्लैण्ड व पश्चिमी यूरोप के देशों में इस खिचाव व आकर्षण को बहुत कुछ मदद मिली वहां के उत्तराधिकार सम्बन्धी क़ानून से जिसके अनुसार पैतृक भू-सम्पत्ति एक ही वारिस को मिल सकती थी—इसका नतीजा यह हुआ कि परिवार के छोटे व्यक्ति कृषीतर रोजगार तलाश करने के लिए विवश हो गये। आयों के अन्तर के अवयव को सहायता मिली जापान में सम्राट मिकाडो द्वारा 1870 के दशक में लगाये गये बहुत कड़े भूमि-कर से, और सोवियत संघ में 1920 में किये गये जबरन सामूहीकरण से।

हमारे देश की सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक परिस्थिति में उपरोक्त में से कोई तरीक़ा नहीं चल सकता। हां, पहले—अर्थात् इंग्लैण्ड व पश्चिमी

यूरोप वाले—तरीक़े की कोई बदली हुई शक्ल शायद कामयाब हो जाय। पैतृक भू-सम्पत्ति का बँटवारा इस प्रकार नहीं होना चाहिए कि किसी का हिस्सा एक हैक्टर अथवा ढाई एकड़ से कम हो और यदि इस प्रकार बँटवारा होने से किसी को पैतृक भू-सम्पत्ति का हिस्सा न मिले या किसी को उत्तराधिकार से वंचित किया जाय तो उसे मुआवज़ा मिलना चाहिए। कुछ भी हो, सरकार व सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का यह कर्तव्य है कि वे उन विभिन्न प्रचार-साधनों द्वारा जो आज उपलब्ध हैं किसानों को यह समझायें कि रोज़गार का विविधीकरण उनके अपने हित में है और भूमि सीमित है; वह लोगों की अनिश्चित संख्या का पोषण नहीं कर सकती, लेकिन कृषीतर क्षेत्र में ऐसी कोई सीमाएँ नहीं हैं। उन लोगों को खेती छोड़ दूसरे धन्धों में रोज़गार तलाश करने में बहुत कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो नयी उभरती हुई पीढ़ियों के हैं या उन क्षेत्रों से आते हैं जहाँ इस समय उपलब्ध भूमि पर वर्तमान जनसंख्या का दबाव इतना बढ़ गया है कि प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ना रुक गया है। आज जापान में बहुत कम नौजवान हैं जो खेती में लगे रहना चाहते हैं।

लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि मैं जिस तरह की अर्थव्यवस्था की वकालत कर रहा हूँ उसमें बहुत ही कम किसानों के बेटों को अपनी पैतृक सम्पत्ति बेचनी होगी या अपने घर छोड़ने होंगे। उनमें से बहुत-से यह कर सकते हैं और उन्हें करना चाहिए कि अपने गाँव में या आसपास कोई कुटीर या छोटा उद्योग-धन्धा शुरू कर दें। इस तरह के धन्धों के लिए बहुत पूँजी नहीं चाहिए। वे खेती के साथ भी चल सकते हैं और खेती का विकल्प भी हो सकते हैं। इस सिलसिले को गाँवों में बिजली का इन्तज़ाम हो जाने से बहुत मदद मिलेगी। कृषि से हटकर श्रमिकों के अन्य धन्धों में लगने के लिए कृषि-उत्पादन में वृद्धि एक आवश्यक शर्त है—उत्पादन में वृद्धि होगी तभी रोज़गारों का विविधीकरण होगा—लेकिन अन्ततोगत्वा यह मनोवृत्ति का प्रश्न है कि रोज़गारों का विविधीकरण होता है अथवा नहीं।

कृषि से हटकर कृषीतर रोज़गारों की तलाश के लिए किसानों में उद्यम व जोखिम उठाने की भावना, भौतिक उन्नति की आकांक्षा तथा कड़ा परिश्रम करने की तत्परता होनी चाहिए जो आज अपने देश के पश्चिमी भागों में रहने वाले कुछ समुदायों को, जैसे सिंधी, गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबियों को छोड़कर, प्रायः से हमारे लोगों में मौजूद नहीं हैं। यदि हमारे लोगों की सामाजिक व आर्थिक मनोवृत्ति नहीं बदली तो कृषि में अतिरिक्त उत्पादन होने पर भी प्राथमिक क्षेत्र से श्रमिक द्वितीय व तृतीय क्षेत्र के रोज़गारों के लिए नहीं जायेंगे। इसका मतलब है कि आर्थिक प्रगति के लिए दो शर्तें एक साथ ज़रूरी हैं—कृषि का उत्पादन बढ़े व लोगों की सामाजिक-आर्थिक मनोवृत्ति बदले। कृषि के उत्पादन

में वृद्धि के साथ-साथ खेतिहरों की संख्या में तुलनात्मक कमी होनी चाहिए। जब तक श्रमिक कृषि से हटकर कृषीतर धन्धों में नहीं लगेंगे तो कृषि के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप गांवों में रोजगार कम हो जाएंगे और अल्प-रोजगारी भी बढ़ेगी।

उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र का—और विदेशों की बात की जाय तो थाईलैण्ड का—उदाहरण दिया जा सकता है जहां कृषि का अतिरिक्त उत्पादन होने पर भी मनोवृत्ति में परिवर्तन न होने की वजह से कोई आर्थिक प्रगति नहीं हुई। जब यह दोनों शर्तें किसी समाज अथवा क्षेत्र में एक साथ पूरी होंगी तभी वह आर्थिक खुशहाली की ओर तेजी से बढ़ सकता है जो पंजाब की मिसाल से साफ़ जाहिर हो जाता है।

बहरहाल, अगर लोग अपनी भाग्यवादिता छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं और अपनी क़िस्मत से सन्तुष्ट रहना चाहते हैं तो कोई भी उनकी मदद नहीं कर सकता—सारी सरकारी योजनाएं बेकार साबित होंगी और देवी-देवता की पूजा से कुछ नतीजा नहीं निकलेगा। तब देश के सामने एक ही विकल्प रह जायगा—अर्थात् कम्युनिज़्म। हमारे लोगों को मालूम होना चाहिए कि कम्युनिज़्म के अन्तर्गत उन्हें कुछ पसन्द करने न-करने, इंकार करने या झिझकने की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। एक औद्योगिक समाज का तिर्माण करने के लिए सामूहिक खेती चलाकर भूमि के उत्पाद का एक अच्छा खासा भाग निकाल लेने अथवा ले लेने के साथ कम्युनिज़्म में गांवों के अतिरिक्त श्रमिकों को (या यूं कहा जाय कि गांव वालों को सामूहिक खेतों में खदेड़ने के बाद बचे हुए श्रमिकों को) योजनानुसार औद्योगिक अथवा कृषीतर धन्धों में लगाने के लिए भर्ती किया जायगा। ये रंगरूट (उस कारखाने या धन्धे में जहां उनको लगाया जायगा) किस तरह का काम करें, यह सर्वशक्तिमान राज्य तय करेगा। दूसरे शब्दों में, कम्युनिज़्म जनता की आर्थिक भलाई के लिए राजनीतिक दबाव का इस्तेमाल करेगा। इसके विपरीत, जनतन्त्र में वही उद्देश्य प्राप्त करने के लिए आर्थिक अभिप्रेरणाओं का प्रयोग किया जाता है। कुछ भी हो, आर्थिक प्रगति की क़ीमत तो चुकानी ही होगी—जनतन्त्र में यह क़ीमत जान-बूझकर व अपनी इच्छा से चुकायी जाती है, तानाशाही में मनुष्य की अपनी इच्छा अथवा राय असंगत हो जाती है।

4

गाँवों व खेती की उपेक्षा के कारण

श्री आर्थर ई. मोर्गन, अध्यक्ष टेनिम घाटी प्राधिकरण, सं. रा. अमेरिका तथा सदस्य, विश्वविद्यालय आयोग, भारत सरकार, ने सन् 1949 में विश्वविद्यालय आयोग के कार्य के लिए प्रस्तुत ज्ञापन में निम्नानुसार कहा है।

भारत के अधिकांश भाग में गाँव बहुत पिछड़े हुए हैं तथा मानव निवास के लिए अनुपयुक्त हैं। गाँवों में जन्मे तथा बाहर जाकर शिक्षा प्राप्त करने वालों की यह आम धारणा है। कदाचित ही कोई ग्रामीण विद्यार्थी विश्वविद्यालय का स्नातक होने के पश्चात गाँव को वापस लौटता है। भारत में भ्रमण करते हुए हम लोग गांव से आये हुए अनेक लोगों से यह प्रश्न पूछते रहे कि वे गावों में क्यों नहीं वापस लौट आते हैं, उनके घुमा-फिराकर दिए हुए उत्तरों तथा भावनाओं का विश्लेषण करने पर सर्वत्र एक-समान ही निष्कर्ष निकलता है कि गांव मानव-निवास के लिए अनुपयुक्त हैं। भारत के विभिन्न भागों में गावों का निरीक्षण करने पर इस प्रकार के विचार के कारण स्पष्टतया दिखाई देते हैं। भारत में 6 लाख गांवों में से कदाचित कुछ सौ ही ऐसे गाँव होंगे, जिनके बारे में ऐसा विचार या मत नहीं बनाया जा सकता कुछ क्षेत्रों के गाँवों में रहने के लिए उपयुक्त स्थान हैं। किन्तु मुख्य रूप से यह प्रतीत होता है। डेढ़ शताब्दियों से अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान, शिक्षित, सम्पन्न तथा महत्वाकांक्षी लोग गाँवों से दूर भागते जा रहे हैं। ये वही लोग थे जिन्होंने इस विश्वास पर कार्य किया कि उनके लिए गाँव अनुपयुक्त हैं। यद्यपि वे इस धारणा को लिखित रूप में न स्वीकार करते हों।

यदि गाँवों से औसत मिलीजुली जनसंख्या का निष्क्रमण नगरों में होता तो चिन्ता की कोई बात नहीं होती। परन्तु समस्या यह नहीं है। गाँवों से

नगरों की ओर प्रवास का रुख विशिष्टता का रहा। प्रत्येक वर्ग के कुछ व्यक्ति प्रवास कर जाते हैं। किन्तु अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान, शिक्षित तथा सम्पन्न लोगों का प्रवास सबसे अधिक हैं। जैसे ही वे तेजी से शहरों की ओर जाते हैं, वैसे ही ग्रामीण जनसंख्या और अधिक निष्क्रिय, कम पुरुषार्थी तथा अधिक निश्चेष्ट हो जाती है। इनके सांस्कृतिक साधन कंगाल हो जाते हैं।

भारतीय गांवों की स्थिति आज भी वैसी ही हैं जब कि श्री मोर्गन ने यह ज्ञापन तैयार किया था।

कृषि की उपेक्षा का सीधा तथा त्वरित आघात खेतिहरों की आर्थिक अवस्था पर पड़ा। इन खेतिहरों में कृषक तथा कृषि मजदूर दोनों सम्मिलित हैं। ग्रामीण जनसंख्या का अधिकांश भाग खेतिहरों से बना है तथा कारीगरों और ग्रामीण समुदाय के दूसरे कामगरों की आय खेतिहरों की आय से प्रभावित होती है। बाद के वर्गों के लिए ही आंकड़े उपलब्ध हैं तथा उन्हीं को सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या के जीवन स्तर का विश्वस्त आधार माना जा सकता है। निम्न तालिका में स्पष्ट लक्षित होगा कि एक ओर खेतिहरों की आय तथा दूसरी ओर नगरों में निवास करने वाले गैर कृषि कर्मियों की आय में अन्तर राजनैतिक स्वतंत्रता के फलस्वरूप तब से कम होने के स्थान पर शत प्रतिशत से भी अधिक बढ़ा है।

प्रति व्यक्ति आय रुपयों में
(सन् 1960-61 के मूल्यानुसार)

वर्ष	औसत	कृषि जनसंख्या	गैर कृषि जनसंख्या
1950-51	252.9	197.8	399.4
1960-61	305.6	219.2	531.4
1961-62	309.2	216.0	554.4
1962-63	308.2	205.6	578.6
1963-64	318.3	206.8	612.3
1964-65	335.1	220.5	639.5
1965-66	311.0	185.6	643.8
1966-67	307.4	179.6	646.4
1967-68	325.4	202.4	654.4
1968-69	327.0	198.7	669.8
1969-70	340.6	206.6	699.1
1970-71	353.0	219.0	711.3
1971-72	349.0	209.8	721.3
1972-73	337.1	190.4	729.3
1973-74	349.1	202.7	737.7
1974-75	343.2	191.1	745.1
1975-76	365.9	211.1	774.3
1976-77	365.1	195.5	813.2

स्रोत : नेशनल एकाउन्टस स्टेटिस्टिक्स (भारत सरकार के कृषि मंत्रालय के खाद्य सांख्यिकी पर सी. एस. ओ. द्वारा प्रकाशित सूचनापत्र तथा नेशनल एकाउन्टस स्टेटिस्टिक्स की ईयर बुक 1960-61 के आंकड़े 1960 से संबन्धित हैं तथा ऐसे ही आगामी वर्षों के हैं।

ऐसी सामाजिक सुविधाओं की जैसे स्वास्थ्य, आवास, परिवहन, बिजली और सबसे अधिक शिक्षा की व्यवस्था करने में गाँव व शहर के बीच सरकारी भेदभाव से ही गाँवों के प्रति सरकार के रवैये का पता चल जाता है। इन सेवाओं की व्यवस्था करना गाँवों व शहरों में मानवीय तत्व पर पूँजी लगाना है और कृषि के लिए अधिक नहीं तो उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उर्वरक व सिंचाई जैसे आगतों में पूंजी लगाना। हल चलाने वाला स्वस्थ या शिक्षित नहीं होगा तो वह इन आगतों का कारगर प्रयोग नहीं कर सकेगा।

पीने के साफ़ पानी को लीजिये। पाँचवीं योजना शुरू हुई तो 85 प्रतिशत शहरी आबादी को नल का पानी मिल रहा था जबकि 1,16,000 ऐसे गाँव थे जिनमें रहने वाले 6,10,00,000 लोगों के लिए पीने के साफ़ पानी की कोई व्यवस्था नहीं थी और इनमें से 90,000 तो ऐसे गाँव थे जिनके आसपास एक मील की दूरी तक पानी का कुआँ भी नहीं था।

एक तो गाँव वालों को बिजली मिलती ही नहीं है और जहाँ मिलती है वहाँ उनको उद्योगों की अपेक्षा अधिक क़ीमत पर दी जाती है। उत्तर प्रदेश की

वर्ष	उद्योग के लिए वास्तविक लागत/इकाई पैसों में	कृषि के लिए वास्तविक लागत/इकाई पैसों में
1970-71	10.6	15.78
1971-72	10.0	16.68
1972-73	11.8	26.47
1973-74	14.0	29.75

इतना ही नहीं कि कृषि को तो उपभोग की गयी प्रति इकाई के 29.75 पैसे के दर से और उद्योग को उपभोग की गयी प्रति इकाई के 14 पैसे के दर से बिजली दी गयी बल्कि बिड़लाओं की हिन्दालको कम्पनी और उत्तर प्रदेश सरकार के दरम्यान हाल में हुए समझौते के अनुसार हिन्दालको को 30 मेगावाट बिजली 10.5 पैसे प्रति इकाई में दी जाती है—मानो हमारे देश में गेहूँ से अल्यूमिनियम (जो हिन्दालको बनाती है) ज्यादा जरूरी है। 1961 से यह समझौता होने तक बिड़लाओं को बिजली दो पैसा प्रति इकाई के दर से दी जाती थी। इसके विपरीत, जो किसान अपने खर्च से नलकूप लगा ले उसे प्रति एच० पी० 180 रु० के दर से देना पड़ता है चाहे उसे बिजली मिले या न मिले जिसकी वजह से किसान के लिए बिजली की क़ीमत और भी बढ़ जाती है।

शिक्षा से जितना आदमी का दिमाग़ खुल जाता है उतना किसी और चीज़ से नहीं। अब सभी यह मानते हैं कि शिक्षा आर्थिक विकास का परिणाम नहीं,

उसका एक कारक है। खेती के लिए भी यह बात सही है। लेकिन दूसरे क्षेत्रों की तरह शिक्षा के क्षेत्र में भी शहरों की तरफ़ झुकाव दिखायी देता है। शहरों की अपेक्षा गाँवों में प्राथमिक व द्वितीय स्तर की शिक्षा की सुविधाओं की कमी है। 1971 की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार गाँवों में साक्षरता 23.74 प्रतिशत है और शहरों में 52.49 प्रतिशत।

जहाँ तक उच्च स्तरीय तकनीकी शिक्षा का सम्बन्ध है, वास्तुकला, इंजीनियरी, क़ानून, प्रबन्ध, चिकित्सा, और सामाजिक कार्य जैसे छह व्यवसायों के प्रशिक्षण के बारह कॉलिजों तथा संस्थानों के छात्रों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के अध्ययन से यह नतीजा निकलता है कि "ऐसे देश में जहाँ अभी अधिकतर लोग गाँवों में रहते हैं वहाँ चुने हुए व्यवसायों में ग्रामीण विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व केवल 13 प्रतिशत है जबकि शहरों से आने वालों को बहुत अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त है।"[1]

पृष्ठभूमि	संख्या	प्रतिशत
गाँव	219	13.08
क़स्बे जिनकी आबादी एक लाख से कम है	268	16.01
शहर जिनकी आबादी एक लाख या उससे अधिक है	1,159	69.24
जिनका पता नहीं लगाया जा सका	28	1.67
जोड़	1,674	100.00

विद्यार्थियों में से दो प्रतिशत से भी कम के पिता हाथों से मेहनत करने वाले शहरी पेशों में काम करते थे, केवल 11 प्रतिशत कृषि में लगे थे, और सिर्फ़ 7 प्रतिशत क्लर्की (जिसमें सेल्समैनी शामिल है) करते थे। कुल मिलाकर इन श्रेणियों में पाँच में से एक विद्यार्थी के पिता आते थे। इसके विपरीत 72 प्रतिशत विद्यार्थियों के पिता ऐसे पदों पर काम करते थे जो प्रशासन व उद्योग में देख-भाल व आदेश देने वाले माने जाते हैं और 59 प्रतिशत के पिता उच्च सरकारी अधिकारी, व्यवसायी या ऐसे ही पेशों वाले थे।

कृषि (और इसलिए, गाँवों) की उपेक्षा का कारण यह है कि हमारा शासक-वर्ग शहरी है, उसका दृष्टिकोण शहरी है। किसी का दृष्टिकोण क्या है, यह इस पर निर्भर करता है कि किस समाज में, कैसे घर में, कैसे वातावरण में उसका

1. 28 फ़रवरी, 1976 के 'इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली' में बलदेव आर० शर्मा का लेख।

जन्म हुआ, लालन-पालन हुआ। जिस हद तक देश का नेतृत्व गाँव की आवश्यकताओं से अपरिचित होता है, उस हद तक उसकी आर्थिक नीति, जाने या अनजाने, शहरों के लिए ही होती है।

सतीश के० अरोड़ा के अनुसार : "1962-72 के दशक में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के आधे से अधिक सदस्य भारत के उन 20 प्रतिशत लोगों में से आये थे जो शहरी हैं और इनमें से दो-तिहाई उन शहरों से आये थे जिनकी जनसंख्या 10,00,000 से अधिक है। कृषकों का अनुपात लगभग बराबर 17 प्रतिशत बना रहा।"[1]

शहरों के रहने वाले मंत्रियों के लिए यह समझना मुश्किल है कि गाँव वालों का दिमाग़ कैसे काम करता है और गाँव-समाज कैसे चलता है। इसलिए उनको गाँव वालों से बौद्धिक सहानुभूति हो सकती है लेकिन किसान समुदाय की आवश्यकताओं, समस्याओं व असुविधाओं का न तो व्यक्तिगत ज्ञान होता है, न उनकी मानसिक समझ। उनके लिए भूमि की समस्या एक अनबूझी पहेली है।

पश्चिमी देशों में राजनीतिक नेतृत्व व प्रशासन के शहरी रंगरूप से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता क्योंकि देहाती क्षेत्र उनकी अर्थव्यवस्था का बहुत छोटा-सा अंश है। और फिर, कुछ देशों में, जैसे अमेरिका में, यह अलिखित नियम है कि कृषि-मन्त्री वही होगा जो कृषक-वर्ग से आया हो। इसके अतिरिक्त वहाँ अकाल का उस प्रकार का तात्कालिक डर नहीं रहता जैसा भारत में बना रहता है।

एक अध्ययन[2] से यह पता चलता है कि 1961 में देश भर में आई० ए० एस० के 1,291 अधिकारी थे जिनमें से केवल 143 (अर्थात् 12 प्रतिशत) किसानों के घरों में पैदा हुए थे। समय गुजरने के साथ इस प्रशासानिक सेवा में भर्ती के मामले में कोई फ़र्क़ नहीं हुआ। 1974 में आई० ए० एस० में भर्ती हुए कृषकों की प्रतिशतता बढ़कर 14 हो गयी। ऐसा समझने की कोई वजह नहीं है कि दूसरी सेवाओं में स्थिति भिन्न होगी।

संघ लोक सेवा आयोग द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार 1975 में आई० ए० एस० व आई० एफ़० एस० के लिए 165 सफल उम्मीदवारों में से केवल 50 गाँवों के रहने वाले थे जिनमें खेतिहर व कृषीतर दोनों शामिल हैं। इसका मतलब है कि उच्च सेवाओं में प्रवेश करने के लिए गाँव वाले उम्मीदवारों की अपेक्षा शहरी क्षेत्र के उम्मीदवारों को नौ गुना अधिक अवसर मिला हुआ है।

---

1. "सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ़ द इण्डियन कैबिनेट", 'पॉलिटिकल एण्ड इकनॉमिक वीकली', स्पेशल नम्बर, अगस्त 1972।
2. 'जर्नल ऑफ़ नेशनल एकैडेमी ऑफ़ एडमिनिस्ट्रेशन' के जुलाई, 1961 में आर० के० त्रिवेदी व डी० एन० राव का लेख।

भारत में उच्चतर सरकारी अधिकारियों के एक व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर, सुब्रह्मण्यम ने यह नतीजा निकाला था कि उनमें से अधिकतर (80 प्रतिशत या उससे अधिक) शहरी वेतन-भोगी अथवा व्यावसायिक मध्यम वर्ग से आते हैं।[1] दूसरी ओर, किसानों व खेतिहर मज़दूरों को दस्तकारों व औद्योगिक मजदूरों से भी कम प्रतिनिधित्व प्राप्त है। बलदेव आर० शर्मा का कहना है कि इन नतीजों का महत्त्व केवल यह नहीं है कि इनको निकालने के लिए बहुत व्यापक अध्ययन किया गया, बल्कि इसलिए भी है कि यह अध्ययन केन्द्रीय सरकार के ऐसे अधिकारियों के बारे में है जिनके सेवा में भर्ती किये जाने पर दो बन्धन लगे हैं, एक यह कि आर्थिक दृष्टि से उपेक्षित अनुसूचित जातियों व आदिम जातियों के लोगों के लिए एक कोटा तय है, और दूसरा यह कि भारत में जनवादी समाजवाद की स्थापना करनी है।[2]

इस तरह की नौकरशाही की वजह से ही जनता, विशेषरूप से ग्रामीण जनता, के कल्याण के लिए बनी योजनाओं में कल्पनाशीलता की कमी होती है और यदि कोई योजना भूले-भटके वास्तविकता के आधार पर बन भी गयी तो उसका कार्यान्वयन नहीं हो पाता, थोड़ा-बहुत हुआ भी तो अधमना जैसा।

इस सम्बन्ध में एक खतरनाक बात यह हो रही है कि उच्चतर सेवाओं की भर्ती अधिकाधिक अनुपात में वर्तमान नौकरशाही में से ही हो रही है। उच्चतर सेवाओं में प्रवेश करने वाला प्रायः किसी नौकरशाह का बेटा या उसके परिवार का सदस्य होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि व्यावसायिक शिक्षा के विद्यार्थियों में अधिकतर सरकार व उद्योग में उच्च स्तरीय अधिकारियों, या वकील-डॉक्टरों जैसे पेशेवालों या व्यापारियों के ही लड़के-लड़कियां होते हैं। इसका मतलब है कि वर्तमान नौकरशाही एक विरासती जाति बनती जा रही है और ऊपर की सरकारी नौकरियों में उन लोगों के लिए दरवाज़े क़रीब-क़रीब बन्द होते जा रहे हैं जो इस अफ़सरी दायरे के बाहर हैं, खासतौर से गांव वालों के लिए।

कहने का यह मतलब नहीं कि कृषीतर परिवारों से आये राजनेताओं व प्रशासकों की योग्यता या ईमानदारी में किसी को शुबहा है। मतलब सिर्फ़ यह है कि राजनीतिक नेता व प्रशासक के मूल्य व हित उन लोगों के हितों व मूल्यों से भिन्न हैं जिनके मामलों की उन्हें व्यवस्था करनी है। आमतौर से किसी एक व्यक्ति के विचार उसके परिवार की-आय के स्रोत तथा उसके आसपास

---

1. बी० सुब्रह्मण्यम, 'सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ़ इण्डियाज़ एडमिनिस्ट्रेटर्स', प्रकाशन विभाग भारत सरकार, 1971।
2. 'इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली', 28 फ़रवरी 1976।

के वातावरण के अनुसार बनते हैं। उसके माता-पिता, उसका पड़ोस, उसका व्यवसाय, उसके मित्र व परिचित, उसके नातेदार—इन सभी का जोड़ व्यक्ति के जीवन-दर्शन को बनाता है। शिक्षा से इस प्रकार बने विचारों में बहुत कम अन्तर आता है—अक्सर शिक्षा उन विचारों की पुष्टि ही करती है।

गाँव के मूक भूखे-नंगों की दुर्दशा के प्रति ईमानदारी से सहानुभूति रखते हुए भी नेहरू ने आर्थिक विकास के लिए विदेशी अर्थशास्त्रियों द्वारा सुझायी गयी उद्योग पर आधारित नीति स्वीकार कर ली। माओ त्से-तुंग के विपरीत, नेहरू ने भारतीय समस्याओं के लिए कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं अपनाया। इसका कारण तलाश करने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। माओ के विपरीत नेहरू शहरी माहौल व पश्चिमी शिक्षा की देन थे।

5

औद्योगिक अभिरचना

भोजन के अतिरिक्त मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी बहुसंख्यक व विविध हैं कि विनिर्मित वस्तुओं के उपभोग तथा सामाजिक सेवाओं के उपयोग की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। और, जैसे कृषि के लिए भूमि एक सीमा लगाने वाला कारक है वैसा उद्योग व सेवाओं के क्षेत्र में अधिकाधिक उत्पादन बढ़ाने के मार्ग में बाधा डालने वाला कोई तत्व नहीं है। इसलिए भारत जैसे देश को जिन कृषीतर साधनों व अवसरों की आवश्यकता हो सकती है उनकी कोई सीमा नहीं और न कृषीतर व्यवसायों में लग सकने वाले व्यक्तियों की संख्या की कोई सीमा है। कृषीतर साधनों का विकास जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए ही नहीं बल्कि रोजगार के साधन के रूप में भी आवश्यक है।

सवाल यह है कि 1947 में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद हमें किस प्रकार की औद्योगिक अभिरचना अपनानी चाहिए थी और अब हमें कैसी अपनानी चाहिए। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं—एक भारतीय जागरण के प्रेरक महात्मा गांधी का और दूसरा स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का।

महात्मा गांधी हमेशा देश में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया करते थे। वह कहते थे कि भारत गाँवों में रहता है शहरों में नहीं। गाँव वाले ग़रीब हैं क्योंकि उनमें अधिकतर बेरोजगार हैं या अल्प-रोजगार की स्थिति में हैं। उनको उत्पादक रोजगार देना होगा जिससे राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़े। वह कहते थे कि देश की वर्तमान स्थिति में जब मानवशक्ति असीम है और उसकी तुलना में भूमि व अन्य प्राकृतिक साधन कम हैं तो कुटीर उद्योग ही जिनके लिए थोड़ी ही या नाम मात्र पूंजी चाहिए, रोजगार दे सकते हैं और हमारी अन्य

आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं—वह पश्चिमी देशों की तरह के मशीनों पर आधारित पूँजी-प्रधान उद्योग नहीं चाहते थे। वह कहते थे, उनसे बेरोजगारी बढ़ेगी, कुछ लोगों के हाथों में सम्पत्ति केन्द्रित हो जायगी और पूँजीवाद के सभी दुर्गुण हमारे देश में आ जायेंगे। उनके नाम के साथ चर्खा जुड़ गया है। उनकी नजर में वह हर प्रकार की दस्तकारी व कुटीर उद्योगों का प्रतीक था।

उनको छोटी इकाइयों द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन पसन्द था। उन्होंने एक बार कहा था : "एक केन्द्र पर बहुत ही पेचीदा मशीनों के जरिये कम-से-कम लोगों द्वारा उत्पादन के बजाय मैं पसन्द करूँगा कि लाखों लोगों द्वारा अपने-अपने घर में व्यक्तिगत रूप से उत्पादन हो।"

वह साफ़-साफ़ चाहते थे कि भारत इस सिद्धान्त का अनुक्रमण करे कि भारी अथवा पूँजी-प्रधान उद्योग केवल उन वस्तुओं के विनिर्माण के लिए लगाये जायें जिनका दूसरे ढंग से उत्पादन नहीं हो सकता और बड़े पैमाने के मशीनों पर आधारित उद्योग केवल ऐसे कामों के लिए लगें जो आदमी के हाथों से घरेलू व छोटे स्तर पर नहीं हो सकते। उनके विचार उनके ही शब्दों में संक्षेप में यह थे :

> "यदि मैं सारे देश से अपने विचार मनवा सका तो भावी सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार होगा चर्खा और वह सब जो चर्खे का मतलब है। इसमें हर वह चीज शमिल होगी जिससे गाँव वालों का कल्याण हो। मेरी परिकल्पना के अनुसार दस्तकारी के साथ-साथ बिजली, पोत-निर्माण, लोहे के कारखाने, मशीनों का निर्माण व ऐसे ही काम भी चलेंगे। लेकिन पराश्रय का क्रम बदल जायगा। अभी तक तो औद्योगीकरण ऐसे हुआ है कि गाँव य गाँव की दस्तकारी बर्बाद हो गये। भावी राज्य में औद्योगीकरण गाँवों व गाँवों की दस्तकारी को बढ़ाएगा। मैं यह समाजवादी विश्वास नही मानता हूँ कि जिन्दगी की आवश्यकताओं के केन्द्रीयकरण से और केन्द्रित उद्योगों के राज्य द्वारा नियोजन व नियन्त्रण से सर्वसाधारण का कल्याण होगा।"[1]

इसके विपरीत जवाहरलाल बड़े-पैमाने के उद्योमों के विकास के पक्ष में थे। उनके दिमाग़ में जो तसवीर थी वह राष्ट्रीय विकास परिषद में जनवरी 1956 में दिये गये उनके भाषण में नज़र आती है :

---

1. 'व्हाई कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम ?' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, नई दिल्ली, द्वारा 1948 में प्रकाशित, पृ० 19।

"स्थायी समिति की बैठक में...भारी मशीन-निर्माण उद्योग को प्रोत्साहन देने पर अधिक बल दिया गया क्योंकि यह कहा गया कि यह औद्योगिक वृद्धि का आधार है, आप यह नहीं करेंगे तो औद्योगिक वृद्धि में देरी हो जायगी। एक यह विचार भी कभी-कभी रखा जाता है कि उप-भोक्ता उद्योग बनाओ, और उनके जरिये धीरे-धीरे धन बचाओ, कुछ और बनाओ जिससे कुछ रोजगार बढ़े। लेकिन मैं मानता हूं कि नियोजन की दृष्टि से यह पूरी तरह त्याज्य सिद्धान्त है। उससे कुछ-न-कुछ यहां-वहां भला हो जायगा; मैं ब्यौरे में नहीं जाता, लेकिन यह तरीक़ा नियोजित विकास का हर्गिज नहीं है। अगर आप चाहते हैं कि भारत औद्योगीकरण करे और आगे बढ़े, जैसा हम चाहते हैं, जो जरूरी भी है, तो आपको औद्योगीकरण करना होगा और यह खयाल छोड़ना होगा कि छोटे-छोटे पुरानी तरह के कारखाने हों जिनमें बालों में लगाने वाला तेल और ऐसी ही चीज़ें बनती हों—इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उपभोक्ता वस्तुएँ छोटी हैं या बड़ी। आपको जड़ तक, नींव तक जाना चाहिए और औद्योगिक वृद्धि की अभिरचना का निर्माण करना चाहिए। इसलिए भारी उद्योग महत्त्व रखते हैं, और किसी चीज़ का महत्त्व नहीं, सिवाय उसके जो सन्तुलन के लिए जरूरी हो—और सन्तुलन भी महत्त्वपूर्ण है। हमें भारी मशीन-निर्माण उद्योगों और भारी उद्योगों के लिए योजना बनानी चाहिए, हमें ऐसे उद्योग चाहिए जो भारी मशीनें बना सकें और हमें यह काम जल्दी-से-जल्दी करने में लग जाना चाहिए क्योंकि इसमें समय लगता है।"

अप्रैल 1956 में भारत सरकार ने औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा यह तय कर लिया कि, "समाजवादी ढंग के समाज" के निर्माण का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि आर्थिक वृद्धि की दर को तेज किया जाय, औद्योगीकरण की रफ़्तार को बढ़ाया जाय, भारी व मशीन-निर्माण उद्योगों को विशेष रूप से विकसित किया जाय, 'सार्वजनिक क्षेत्र' का विस्तार किया जाय और विशाल व विकासशील सहकारी क्षेत्र बनाया जाय। यह प्रस्ताव दूसरी योजना में शामिल कर लिया गया।

28 सितम्बर 1959 को चण्डीगढ़ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में दिये गये अपने भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने अपनी स्थिति बिलकुल स्पष्ट कर दी। उन्होंने कहा : "एकीकृत योजना की प्रमुख बात है उत्पादन, न कि रोजगार। रोजगार महत्त्वपूर्ण है लेकिन उत्पादन के सन्दर्भ में बिलकुल महत्त्वहीन है। और उत्पादन पहले से श्रेष्ठतर तकनीकों से ही बढ़ सकता है जिसका अर्थ है आधुनिक उपायों से ही बढ़ सकता है।"

नेहरू व उनके सलाहकारों ने यह मान लिया था कि लम्बे अर्से में औद्योगीकरण की रफ़्तार व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि का दारोमदार इस बात पर है कि कोयला, बिजली, लोहा व इस्पात, भारी मशीनों, भारी रसायनिक कारखानों और आमतौर से भारी उद्योगों का उत्पादन बढ़ता रहे—अर्थात पूंजी की रचना के लिए जरूरी उत्पादन बढ़े। यह स्वीकार किया गया कि भारी उद्योगों में बहुत अधिक लागत की ज़रूरत है और लाभप्रद होने के लिए लम्बी अवधि चाहिए, लेकिन यह दलील दी गयी कि बिना उनकी स्थापना के भारत न केवल उत्पादक वस्तुओं का बल्कि आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का भी आयात करता रहेगा जिससे देश के अन्दर पूंजी का संचयन नहीं हो पायेगा, इसलिए भारी उद्योगों का विकास तेज़ी से होना ज़रूरी है। इसीलिए पहली योजना के अलावा सभी पंचवर्षीय योजनाओं का आधारभूत सिद्धान्त यह रहा कि तेज संवृद्धि के लिए भारी उद्योग ज़रूरी हैं, उनके विस्तार से यह तय होगा कि किस रफ़्तार से अर्थव्यवस्था स्वावलम्बी व स्व-उत्पादक होती है, और उनके विस्तार से ही मध्यम व छोटे पैमाने के उद्योगों में जान आयेगी, वे बड़े उद्योगों के लिए कल-पुर्ज़े बनायेंगे व उनका माल खरीदेंगे, और इस प्रकार अन्ततोगत्वा बृहत्तर रोज़गार क्षमता प्रदान करेंगे। नियोजन की नीति यह थी कि देश का अति शीघ्र औद्योगीकरण किया जाय और उसका मतलब यह था कि भारी उद्योग को प्रथम स्थान दिया जाय।

पूंजी-प्रधान उद्योगों के अनुकूल परिस्थितियाँ अविद्यमान

नेहरू के विचारों के विरोधी चिन्तकों ने कहा था कि विकास की जिस पश्चिमी नीति की वह नक़ल करना चाहते हैं उसके लिए इतनी अधिक पूंजी लगाने की जरूरत है जो भारत के लिए सम्भव न तब थी और न अब है।

भारत में उपलब्ध भूमि व प्राकृतिक साधनों की मात्रा व उनकी गुणवत्ता निर्धारित है (घट-बढ़ नहीं सकतीं) और आबादी बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में प्रति व्यक्ति आय अथवा उत्पाद तभी बढ़ना सम्भव है जब पूंजी की संवृद्धि या प्रौद्योगिकी में सुधार की दर—या दोनों तत्व मिलकर—इतनी रफ़्तार से बढ़ें कि जनसंख्या में वृद्धि की दर से आगे निकल सकें। यह तभी हो सकता है जब श्रमिकबल में अपनी भौतिक स्थिति सुधारने की आकांक्षा इतनी प्रबल हो कि वह उसके लिए कड़ी मेहनत करने के लिए तैयार हो। इसका मतलब है कि आर्थिक संवृद्धि के लिए प्राथमिक निर्णायक तत्व है बचत की दर, पूंजी के संचयन की दर, पूंजी-निर्माण की दर, या अर्थव्यवस्था में निवल लागत की दर। बचत आमदनी व खर्च का अन्तर है जिसे नक़दी के रूप में या बैंक में जमा करके रखा जा सकता है। जब इस बचत को इमारत बनाने, कारखाना लगाने

या फ़ार्म का विकास करने के लिए लगाया जाय तो पूंजी-निर्माण होता है। सिद्धान्तत: स्टॉक में और माल शामिल करना भी पूंजी-निर्माण माना जाता है।

पूंजी के दो घरेलू स्रोत उपलब्ध हैं—बचत व कर। हम यहां बचत के बारे में लिखेंगे। सीधे-सादे शब्दों में कहा जाय तो आदमी जो कमाता है और जो खा जाता है, उसका अन्तर बचत है। ऐसे देश में जहां सघन खेतिहर अर्थव्यवस्था हो, आय कम हो व उपभोग का स्तर बिलकुल गुजारे-भर हो, जहां आबादी की कुल मिलाकर आमदनी का बहुत बड़ा भाग खाने और इस तरह के प्राथमिक खर्चों में जैसे कपड़े व घर की जरूरी चीजों के लिए चला जाता हो, वहां बचत में वृद्धि करना आसान नहीं होता। 1973-74 में कुल व्यक्तिगत उपभोग का मूल्य तत्कालीन क़ीमतों के हिसाब से 43,602 करोड़ रुपया आंका गया था जो सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 75 प्रतिशत हुआ। उसमें से 65 प्रतिशत खाद्य-पदार्थ पर व्यय हुआ। जब केवल परमावश्यक वस्तुओं का ही उपभोग होगा तो जनसंख्या और भी बढ़ेगी जिसका अर्थ है कि आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति का बराबर विस्तार हो। नतीजा यह होता है कि प्रचुर मात्रा में उत्पाद अथवा पूंजी का संचय होना बहुत मुश्किल हो जाता है।

अतिरिक्त उत्पादन के लिए आवश्यक लागत के बारे में योजना आयोग के सभी प्रक्षेपण गलत साबित हुए। पहली योजना यह मानकर बनायी गयी थी कि पूंजी व उत्पाद में वृद्धि का अनुपात 3 : 1 होगा—अर्थात् इतना अतिरिक्त उत्पादन करने के लिए जिसका मूल्य एक रुपया हो, तीन रुपये अतिरिक्त लागत अथवा संवर्धित पूंजी आवश्यक होगी। मुख्यत: फ़सलें अच्छी होने तथा जंगलों को काटकर कृषि के अंतर्गत भूमि का विस्तार किये जाने से, यह अनुपात 1.38 : 1 रहा—यह ध्यान में नहीं रखा गया कि जंगल कटने से इमारती लकड़ी का कितना नुक़सान हुआ और परिस्थिति को कितनी हानि पहुंची। योजनाकारों ने अनुमान लगाया था कि यह अनुपात दूसरी योजना में 2.3 : 1, तीसरी में 2.62 : 1 और चौथी में 3.36 : 1 होगा। लेकिन बाद में पता चला कि सभी अनुमान अत्यधिक आशावादी थे और दूसरी, तीसरी व चौथी योजनाओं में असलियत में प्रति उत्पादक इकाई दुगनी लागत लगी।

अब मान लीजिये कि भविष्य में पूंजी : उत्पाद अनुपात को घटाकर 4 : 1 किया जा सके और जनसंख्या में वृद्धि की दर को भी बर्तमान 2.5 प्रतिशत से घटाकर 2.25 प्रतिशत किया जा सके, तो भी रहन-सहन के वर्तमान स्तर को बनाये रखने के लिए हमें हर वर्ष राष्ट्रीय आय की 9 प्रतिशत (2.25×4) लागत लगानी होगी। इसका मतलब है कि प्रति व्यक्ति 1 प्रतिशत उत्पाद बढ़ाने के लिए हमें 13 प्रतिशत $(9+4)$ अतिरिक्त लागत लगानी होगी तथा

2 प्रतिशत उत्पाद बढ़ाने के लिए 17 प्रतिशत अतिरिक्त लागत लगानी होगी। लघुगणकीय रीति से हिसाब लगाने पर पता चलता है कि वर्तमान रहन-सहन के स्तर को दो गुना ऊँचा उठाने के लिए हमें 51 वर्ष तक 17 प्रतिशत की दर से पूंजी लगानी होगी। और राष्ट्रीय आय व बचत का अनुपात 1950-51 में 5 प्रतिशत, 1955-56 में 6.3 प्रतिशत, 1960-61 में 3.5 प्रतिशत, 1965-66 में 4.1 प्रतिशत, और 1971-72 में 4.8 प्रतिशत था।

हमारी अत्यधिक जनसंख्या (व उसकी संभावित वृद्धि) तथा मानवीय कमियों की वजह से हमारी बचत की दर इतनी कम है। यह एक ऐसी अकाट्य व ठोस सच्चाई है जिसे अधिक पूंजी-प्रधान व भारी उद्योगों की वकालत करने वाले भूल गये हैं। इसी सच्चाई ने उन लोगों को ग़लत साबित कर दिया। वह लोग सही थे जो कम पूंजी-प्रधान विकेन्द्रित उद्योगों के लिए कहते थे।

उन छोटे-छोटे देशों को छोड़ भी दें, जैसे आयरलैण्ड, प्यूरटे रिको और लिबिया जिन की जनसंख्या 30 लाख के आसपास है, **वर्ल्ड बैंक एटलस** (1975) के अनुसार दुनिया में केवल 22 देश ऐसे हैं जहाँ प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी० एन० पी०) दो हज़ार डालर से अधिक है। कृषि में लगे श्रमिकों की प्रतिशतता सोवियत संघ में 32 और पोलैण्ड में 38 है—यह 25 प्रतिशत से अधिक होने की वजह से इन दोनों को आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में नहीं गिना जा सकता यद्यपि उनकी जी० एन० पी० बहुत अधिक है। बाक़ी रहे 20 विकसित देश। उनमें से दो अर्थात् लोकतांत्रिक गणवादी जर्मनी व चैकोस्लोवाकिया तीस वर्ष पहले कम्युनिस्ट कैम्प में खींच लिये जाने तक जर्मनी का हिस्सा थे और उन्होंने आर्थिक दृष्टि से काफ़ी तरक़्क़ी कर ली थी। अब 18 देश बचे जिनके आर्थिक विकास की पद्धति का हमें अध्ययन करना चाहिए। इनमें से इस्राईल व स्विटज़रलैण्ड को निकाल दीजिये तो बाक़ी 16 को आठ-आठ की दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक श्रेणी में आते हैं नीदरलैण्ड्स, बेलजियम, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली, डैनमार्क और फ्रांस। इन देशों में जनसंख्या की सघनता के अनुपात में बहुत थोड़े प्राकृतिक साधन थे। उन्होंने उपनिवेशों व अन्य देशों पर कब्ज़ा करके प्राकृतिक साधनों की कमी को पूरा किया। दूसरी श्रेणी में आते हैं आस्ट्रिया, नार्वे, स्वीडन, अमेरिका, न्यूज़ीलैण्ड, फिनलैंड, कनाडा और आस्ट्रेलिया। इनके पास जनसंख्या की सघनता के अनुपात में बहुत अधिक भौतिक साधन थे (जिसकी वजह से दूसरे देशों पर क़ब्ज़ा करने की न उन्हें ज़रूरत थी, न उसके लिए उनके पास बहाना था)। अपने संसाधनों से वह अपने कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करने के साथ-साथ इतना खाद्यान्न पैदा कर सकते थे जो उनकी देहाती आबादी की ज़रूरतों से ज़्यादा था और

औद्योगिक मजदूरों तथा पूंजी-निर्माण में लगे लोगों को खिलाने के लिए काफ़ी था।

अन्य किसी देश को पूरी तरह से विकसित या आर्थिक दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ नहीं माना जा सकता—सोवियत संघ को भी नहीं जिसकी प्रति व्यक्ति सकल उत्पाद केवल 2,030 डालर है। कोरिया, पाकिस्तान, श्रीलंका व भारत को छोड़कर अन्य सभी देशों में प्रति व्यक्ति भूमि अथवा प्राकृतिक साधनों की बहुलता है, फिर भी वे सफलता प्राप्त नहीं कर सके। वे अपने प्राकृतिक साधनों को देखते हुए रहन-सहन का जितना ऊंचा स्तर प्राप्त कर सकते थे, नहीं कर पाये। इसका मुख्य कारण है उनके पास उन मानवीय गुणों का अभाव जो विकसित देशों के पास हैं (और जिन गुणों के कारण उनमें से कुछ देश विदेशी भूमि-खण्डों पर क़ब्ज़ा कर सके)।

सोवियत संघ द्वारा सफलता न प्राप्त करने का एक और भी कारण है—कम्युनिस्टों ने किसानों को उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ खदेड़कर सामूहिक खेतों के साथ बांध दिया जिससे सामूहिक खेतों की उत्पादकता इतनी कम है कि उनसे किसान छुटकारा नहीं पा सकते। ऊपर जिन चार देशों का उल्लेख किया गया है उनमें से पाकिस्तान, श्रीलंका व भारत में संसाधनों की कमी है और वहां के लोगों में विकसित देशों के रहने वालों जैसे गुणों का अभाव है, लेकिन कोरिया ने हाल में काफ़ी प्रगति की है हालांकि अभी वह विकसित देश नहीं बना है।

नीदरलैण्ड्स तथा अन्य (उपरोक्त पहली श्रेणी में उल्लिखित) विकसित देशों को जो सुविधाएँ प्राप्त थीं, भारत को उपलब्ध नहीं हैं। नैतिकता को छोड़ भी दिया जाय, तो भी अब ऐसे उपनिवेश व आश्रित देश हैं ही नहीं जिनका शोषण किया जा सके। हमने विश्व रंगमंच पर उस समय प्रवेश किया है जब दूसरे देशों की जनता व उनके साधनों का शोषण कर सकना असम्भव है। और फिर सभी अल्पविकसित देश आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं जिससे अगर बिलकुल नहीं, तो बहुत थोड़ी ही विदेशी मण्डियां ऐसी है जिनका हम शोषण कर सकें या जहां अपनी औद्योगिक वस्तुओं को बेच सकें।

शायद भारत एक सौ वर्ष पहले ईमानदारी और मेहनत के साथ अपना औद्योगीकरण करता तो उसके लिए विकास का पश्चिमी मार्ग खुला हुआ होता—एक सौ वर्ष पहले इस पूरे महाद्वीप की कुल जनसंख्या 20 करोड़ से अधिक नहीं थी, मृत्यु दर ऊंची थी, जनसंख्या वृद्धि की दर आधे प्रतिशत से भी कम थी और उद्योगों में लगाने के लिए तब आज की जितनी अधिक पूंजी की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन आज वह रास्ता पूरी तरह बन्द है। भारी उद्योग को जितनी पूंजी चाहिए उतनी न तो हमारे पास फ़ालतू है और न हम जमा कर सकते हैं, और न ही भारी उद्योग आज के भारत की अत्यधिक जनसंख्या को

रोजगार दे सकते हैं।

इतना तो स्पष्ट है कि सोवियत संघ के उदाहरण का अनुकरण भारत के लिए उपयोगी नहीं होगा। अगर दो परिस्थितियां एक जैसी हों तो उत्पादन बढ़ाने में पूंजीवाद अधिक दक्ष रहेगा, कम्युनिज्म कम दक्ष। चीन से भी कुछ सीखने का प्रश्न नहीं उठता। कम्युनिज्म के अन्तर्गत सोवियत संघ अपने विशाल संसाधन के रहते हुए भी अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने में बहुत सफल नहीं रहा तो चीन जिसके पास साधन कम हैं, सफलता की आशा कम ही कर सकता है। यद्यपि चीन के सम्बन्ध में विश्वसनीय सूचना तो उपलब्ध नहीं है लेकिन अगर चीन को भारत की तुलना में कुछ सफलता मिली है और चीनवासी भारतवासियों की अपेक्षा अच्छा खाते व अच्छा पहनते हैं तो इसका एक कारण यह हो सकता है कि उसने गांधी की एक से अधिक शिक्षाओं को ग्रहण कर लिया है। ऐसे सूत्रों से जिनकी सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता, यह मालूम हुआ है कि 1962 से माओ त्से-तुंग ने न केवल कृषि को प्राथमिकता दी, अपितु अपने देश के निर्माण के लिए बड़ी-बड़ी मशीनीकृत योजनाओं व उद्योगों की अपेक्षा मानव श्रम व विकेन्द्रित श्रम-प्रधान उद्यमों पर अधिक भरोसा किया। तो हम इस अकाट्य परिणाम पर पहुंचते हैं कि भारत में पूंजी-प्रधान अभिरचना के लिए जिस मात्रा में पूंजी चाहिए वह हम घरेलू बचत से प्राप्त नहीं कर सकते—और जितनी जल्दी यह पूंजी चाहिए उतनी जल्दी तो हर्गिज प्राप्त नहीं कर सकते—चाहे यहां जनतंत्रीय व्यवस्था हो चाहे कम्युनिस्ट।

लेकिन एक जगह थी जहां से हम सहायता प्राप्त करने की आशा कर सकते थे—अन्तर्राष्ट्रीय मण्डी। वहां से सहायता प्राप्त करने के औचित्य की पश्चिमी अर्थशास्त्री व्याख्या कर चुके हैं—उनमें से रेंजर नर्सके व आर्थर लेविस के नाम उल्लेखनीय हैं। उनकी दलील यह है कि ग़रीब देश एक दुश्चक्र में फंसे हुए हैं—क्योंकि आय कम है इसलिए बचत कम है, क्योंकि बचत कम है इसलिए निवेश कम होता है, क्योंकि निवेश कम है इसलिए उत्पादकता कम है, क्योंकि उत्पादकता कम है इसलिए आय कम है। इसलिए भारत या किसी भी अन्य ग़रीब देश के लिए उचित अवधि के अन्दर ऊपर उठने के लिए उसके अपने प्रयत्न पर्याप्त नहीं हैं। यह दलील दी गयी कि क्योंकि इस दुश्चक्र के बाहर निकला नहीं जा सकता इसलिए भारत का प्रचुर विकास बिना विशाल विदेशी सहायता के सम्भव नहीं है।

नेहरू इस दलील का शिकार हो गये, हालांकि अनेक अर्थशास्त्रियों व देश के शुभचिंतकों ने उनको इसके विपरीत सलाह दी थी। एक रास्ता हमारे लिए और भी खुला हुआ था जो महात्मा गांधी ने हमें दिखाया था—देश का धीरे-धीरे

व धैर्यपूर्वक अपने संसाधनों के सहारे नीचे से निर्माण किया जाय। लेकिन नेहरू तो सुनने के लिए तैयार नहीं थे। वह तो अमेरिका व सोवियत संघ की तरह की एक औद्योगिक अभिरचना की स्थापना करने पर तुले हुए थे। इसलिए उन्होंने सारा ध्यान व सारी मेहनत विदेशी पूंजी व विदेशी प्रौद्योगिकी प्राप्त करने में लगा दी। यही नहीं, उन्होंने सारे सम्भव घरेलू संसाधन भी भारी उद्योग में लगा दिये और खाना, पानी, कपड़ा, मकान, शिक्षा व स्वास्थ्य की आवश्यकताओं तक की भी उपेक्षा की।

6

समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था

पश्चिमी साहित्य में वर्णित जनतन्त्र में दृढ़ विश्वास रखने और साथ ही, रूसी क्रान्ति के उद्देश्यों से आकर्षित होने की वजह से भारतीय राज-नेताओं में से अधिकतर एक ऐसी राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के स्वप्न देखते थे जिसमें न केवल किसी का शोषण न हो सके बल्कि हर एक को अपनी उन्नति के लिए अवसर भी मिल सके। उनके इस स्वप्न में जनतन्त्रीय स्वतन्त्रताओं व आर्थिक समानता के साथ तेज गति से आर्थिक विकास की परिकल्पना भी निहित थी। इसलिए नेहरू के प्रभाव में आकर उन्होंने समाजवाद व पूंजीवाद में समझौता करके 'मिश्रित' अर्थव्यवस्था स्वीकार कर ली जिसमें राष्ट्र के भौतिक संसाधनों पर कुछ राज्य का व कुछ नागरिकों का स्वामित्व रहे और कुछ को राज्य चलाये कुछ को नागरिक—दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक व निजी क्षेत्र एक साथ चलें। शायद यही वजह है कि भारत में बड़े व्यवसायी भी समाजवाद में विश्वास रख सकते हैं और उसे व्यावहारिक नीति-उद्देश्य मान सकते हैं।

कांग्रेस पार्टी ने जनवरी 1964 में अपने भुवनेश्वर अधिवेशन में 'संसदीय जनतन्त्र पर आधारित समाजवादी राज्य' की स्थापना को अपना उद्देश्य घोषित किया। सभी जानते हैं कि कांग्रेस ने औपचारिक रूप से जनवरी 1955 में अवाडी अधिवेशन में समाजवाद का शोशा छोड़ा था लेकिन कांग्रेसजन को आज तक यह नहीं मालूम है कि वे ठीक-ठीक क्या चाहते हैं। इतने वर्ष सत्तारूढ़ रहने पर भी नेहरू स्वयं यह कभी स्पष्ट नहीं कर सके कि जो उद्देश्य उन्होंने देश के सामने रखा है उसकी ओर जाने के लिए सुनिश्चित मार्ग कौन-सा है।

जनमत को सन्तुष्ट करने के लिए (प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में) नयी कांग्रेस ने जनवरी 1971 में अपने चुनाव घोषणापत्र में यह दो टूक

घोषणा की थी कि कुछ हाथों में आर्थिक सत्ता व सम्पत्ति को केन्द्रित होने से रोकने के लिए उठाये जाने वाले क़दमों को छोड़कर "निजी सम्पत्ति का एक संस्था के रूप में उन्मूलन करने का कोई इरादा नहीं है।" दूसरी ओर, अपनी नीतियों के 'समाजवादी' चरित्र पर बल देने के लिए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अगले वर्ष भुवनेश्वर में घोषणा की कि "घरेलू व विदेशी नीतियों पर कम्युनिस्टों व कांग्रेस का चिन्तन एक समान है।"[1]

लेकिन सार्वजनिक-क्षेत्र के कार्य-संचालन की आलोचना होने लगी तो उन्होंने समय-समय पर सार्वजनिक समारोहों में यह कहना शुरू किया कि समाजवाद का अर्थ सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं है और सरकार किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण तभी करेगी जब ऐसा करना बिलकुल ज़रूरी होगा। गांधीनगर (गुजरात) में 9 और 10 अक्तूबर 1972 को—समाचारपत्रों के अनुसार इस काल्पनिक विचार का खण्डन किया कि "राष्ट्रीयकरण अपने में ही एक समाजवादी कार्य है।"

गांधीजी का यह स्पष्ट मत था केवल उन बड़ी-बड़ी परियोजनाओं व उद्योगों को ही कम-से-कम संख्या में सरकार को अपने अधिकार अथवा स्वामित्व में लेना चाहिए जो बिलकुल ज़रूरी हों। उन्होंने कहा था :

> "जो बात मैं चाहूँगा वह तो यह है कि सत्ता राज्य के हाथों में केन्द्रित न हो बल्कि ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार हो क्योंकि मेरा मत है कि राज्य की हिंसा की अपेक्षा निजी स्वामित्व की हिंसा कम हानिकारक है। लेकिन यदि अनिवार्य हो तो मैं न्यूनतम राज्य-स्वामित्व ही का समर्थन करूँगा।"[2]

समाजवादी व्यवस्था के बारे में जिसमें सम्पत्ति का स्वामी राज्य हो, गांधी क्या सोचते थे यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने राज्य को एक विशालकाय जन्तु बनने देने के विरुद्ध देश को बार-बार सचेत किया था।

> "स्वराज्य का अर्थ है सरकार के नियन्त्रण से—चाहे सरकार विदेशी हो या राष्ट्रीय—स्वतन्त्र होने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना। यदि लोग यह आशा करेंगे कि जीवन के हर क्षेत्र का नियन्त्रण सरकार करे तो वह बेकार का स्वराज्य होगा।

---

1. 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया', 10 फ़रवरी 1974।
2. "ऐन इण्टरव्यू विद गांधीजी", 'माडर्न रिव्यू', अक्तूबर 1935।

"वही राष्ट्र सच्चे अर्थ में जनतन्त्रीय है जो बिना अधिक सरकारी हस्तक्षेप के अपने काम सुगमता व कारगर ढंग से कर ले। जहाँ ऐसी परिस्थिति नहीं है, सरकार का वह रूप नाम-मात्र को ही जनतन्त्रीय है।

"मैं सरकार की शक्ति में वृद्धि से बहुत डरता हूँ क्योंकि वह लोगों का शोषण कम-से-कम होने देकर कहने को तो उनका भला करती है लेकिन वह इस प्रकार व्यक्तित्व को नष्ट करके उनको अधिकतम हानि पहुँचाती है, क्योंकि व्यक्तित्व ही तो हर प्रकार की प्रगति का मूल स्रोत है।"

समाजवाद का अनिवार्य रूप से अर्थ है ऊपर से नीचे तक नियोजन और इससे स्वतन्त्रता की जड़ें खोखली हो जाती है क्योंकि इसमें लोगों को अपने निर्णय के अनुसार काम करने देने के बजाय आदेशों का पालन करने के लिए विवश किया जाता है। लेकिन गांधीजी ने जैसी अर्थव्यवस्था की कल्पना की थी उसमें नियोजन की प्रक्रिया नीचे से आरम्भ होकर ऊपर तक चलती जाती है। ऐसा हो तो हर एक के हितों को सभी की खुशहाली के साथ संलग्न किया जा सकता है जिससे जनतन्त्र का उद्देश्य सिद्ध होगा।

सार्वजनिक क्षेत्र

समाजवाद की ओर बढ़ने के लिए कारखानों व उत्पादन के अन्य साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की माँग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में उठायी गयी थी ताकि मजदूरों का शोषण रोका जा सके। तब तक मजदूरों को मतदान का अधिकार नहीं था, हड़ताल का अधिकार नहीं था, अपने संघ बनाने का अधिकार नहीं था और मनमाने ढंग से नौकरी से हटा दिये जाने के बारे में उनको किसी प्रकार की सुरक्षा प्राप्त नहीं थी। यह भी समझा जाता था कि कारखाने पर सार्वजनिक स्वामित्व होने से श्रमजीवी का रुतबा बढ़ जायगा और व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक जनतन्त्रीय व समाजवादी बन जायेगी। यह भी समझा जाता था कि राज्य तो उद्योग को सार्वजनिक हित में चलायेगा जबकि पूंजीवादी उसे निजी स्वार्थ के लिए चलाता है, इसलिए सरकारी प्रबन्ध से उसकी दक्षता बढ़ जायगी।

जहाँ तक पहले उद्देश्य का सम्बन्ध है, वह तो अब संगत नहीं रहा। औद्योगिक मजदूरों के अधिकाधिक सर्वहारा बनने के बारे में कार्ल मार्क्स की भविष्यवाणी सही साबित नहीं हुई। पूंजीवादी देशों में पुराने ढंग के मजदूर वर्ग के साथ और कुछ हुआ हो या न हुआ हो, उदारवादी पूंजीवाद ने उपभोक्ता वस्तुओं का इतनी प्रचुर मात्रा में और इतने नियमित रूप से उत्पादन करके, कि

कभी पूर्ति का प्रवाह रुकने न पावे, सार्वजनिक ग़रीबी को उन दिनों की याद-भर बना दिया है जब राजाओं के दैवी अधिकार माने जाते थे।

सार्वजनिक क्षेत्र या समाजवाद का अर्थ है निजी सम्पत्ति का उन्मूलन, लेकिन निजी सम्पत्ति खत्म करने-भर से ही तो मजदूरों का शोषण खत्म नहीं किया जा सकता। नौकरशाही की रोकथाम की समस्या तो बनी रहती है और क्योंकि यह मानव व्यवहार का प्रश्न है, इसका कोई हल नज़र नहीं आता। हमारे देश में अधिकतर बड़े सार्वजनिक उद्यमों में मजदूर-प्रबन्धक सम्बन्ध यदि घोटाले में पड़े हुए हैं तो इसलिए कि श्रेणियों में विभक्त अफ़सरशाही मजदूरों से बहुत दूर रहती है। आशा थी कि सरकार अपने आदर्श व्यवहार से निजी क्षेत्र के मालिकों के लिए एक मिसाल बन जायेगी, लेकिन यह हुआ नहीं।

सार्वजनिक स्वामित्व अथवा राष्ट्रीयकरण से मजदूर को नया रुतबा नहीं मिला है और न इससे मज़दूरों को अपने कारखानों, मशीनों व काम से कोई लगाव पैदा हुआ है। ताक़तवर मज़दूर-सभाओं के समर्थन के बावजूद, व्यक्तिगत रूप से हर कर्मचारी यह अनुभव करता है कि उसे अपने काम की परिस्थितियों पर कोई वास्तविक नियन्त्रण प्राप्त नहीं है और एक प्रकार के मालिकों से दूसरी तरह के मालिकों के पास उसकी बदली हो गयी है।

सार्वजनिक स्वामित्व द्वारा अधिक समतापूर्ण समाज की ओर बढ़ने तथा नये इजारेदारों को पैदा होने से रोकने की भी बात थी। लेकिन मालूम हुआ कि यह काम तो दूसरे उपायों से हो सकता है जैसे कर लगाकर, क़ीमतों पर नियन्त्रण करके, उत्पाद के गुणों के बारे में पाबन्दी लगाकर, ऐसे सामाजिक क़ानून पास करके जिनके द्वारा बुढ़ापे में पेंशन व बीमारी में सुविधाएँ दी जायें, तथा मजदूर-सभाओं की प्रतिकारी शक्ति से। इंग्लैण्ड व अमेरिका में इन उपायों के प्रयोग से पिछली चौथाई शताब्दी में अमीरों व ग़रीबों के दरम्यान फ़र्क़ बहुत कम हो गया है लेकिन भारत में जहाँ औद्योगिक क्षमता का 60 प्रतिशत राज्य के स्वामित्व में है, यह फ़र्क़ बहुत बढ़ा है।

31 मार्च 1976 को केन्द्रीय सरकार के आधीन 139 सार्वजनिक संस्थान थे जिनमें से आठ निर्माणाधीन थे, सात बीमा निगम थे, तीन कम्पनी ऐक्ट की धारा 25 के अन्तर्गत पंजीकृत थे, 42 सेवा उद्यम थे और शेष 79 उत्पादन में लगे थे। उनकी संख्या व उनमें पहली पंचवर्षीय योजना से अब तक लगी पूंजी अगले पृष्ठ पर तालिका में दी जा रही है :

अवधि	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	इकाइयों की संख्या
1	2	3
पहली योजना के शुरू में	29	5
दूसरी योजना के शुरू में	81	21
तीसरी योजना के शुरू में	953	48
तीसरी योजना की समाप्ति पर (31 मार्च 1966 को)	2,415	74
31 मार्च 1967 को	2,841	77
31 मार्च 1968 को	3,333	83
31 मार्च 1969 को	3,902	85
31 मार्च 1970 को	4,301	91
31 मार्च 1971 को	4,692	97
31 मार्च 1972 को	5,052	101
31 मार्च 1973 को	5,571	122
31 मार्च 1974 को	6,237	122
31 मार्च 1975 को	7,261	129
31 मार्च 1976 को	8,973	129

31 मार्च 1976 को सरकारी स्वामित्व के सार्वजनिक संस्थानों में 8,973 करोड़ रुपये की लागत लगी हुई थी जो देश के सभी संगठित उद्योगों में लगी पूंजी के आधे के क़रीब है। यदि नक़द ऋण प्रबन्धों के आधीन बक़ाया (2,023 करोड़) शामिल कर लिया जाय तो यह रक़म 10,966 करोड़ रुपया हो जायगी। इसमें से भारतीय इस्पात प्राधिकरण, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, और बोकारो स्टील लिमिटेड में ही लगभग 2,570 करोड़ की लागत लगी है जो सार्वजनिक क्षेत्र में लगी कुल लागत का 28.6 प्रतिशत है। इसमें से 2,300 करोड़ रुपया से कुछ अधिक हिन्दुस्तान स्टील व बोकारो में लगा है जिसमें चौथी योजना के अवधि में बोकारो में लगा 872 करोड़ रुपया भी शामिल है।

सार्वजनिक क्षेत्र की लागत पर—और इसलिए उसके प्रतिलाभ पर भी—रिश्वत, बेकार पड़ी क्षमताओं तथा अकुशलता ने भी अतिक्रमण किया है। बही-खातों में दिखायी गयी लागत का बहुत बड़ा अंश—20 से 40 प्रतिशत तक—

रिश्वत के जरिये निजी आय में बदल जाता है—उसकी मात्रा इस पर मुनहसिर है कि परियोजना कौन-सी है और सम्बन्धित व्यक्ति कौन हैं। इसलिए वास्तविक लागत बहीखातों में दिखायी गयी रक़म से उतनी कम होती है जितनी रिश्वत के रूप में कई नाम से दी जाती है। और फिर वास्तविक लागत का भी एक भाग (अर्थात रिश्वत में दी गयी रकम निकालकर जो रक़म दी गयी, उसका भी एक भाग) बेकार पड़ी क्षमता के रूप में गतिहीन हो जाता है। गतिहीन लागत से जिन पूंजी-संसाधनों का वह प्रतीक है, वे भी बेकार जाते हैं। कच्चे माल व सहायक माल की बर्बादी जरूरत से ज्यादा कर्मचारियों के रखने और मशीनों की अकुशल देखरेख की वजह से उत्पाद की क़ीमत, उसकी क्वालिटी व उसकी मात्रा पर भी उलटा असर पड़ता है; इसका नतीजा यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों में लगी स्थिर पूंजी की प्रति इकाई बढ़ने वाला मूल्य सबसे कम है—निजी क्षेत्र के कारखाने का छठवां भाग ही है। नीचे दी गयी तालिका के कालम 2 व 3 में दिये गये आंकड़े भारत सरकार के प्रकाशन **एनुअल सर्वे आॅफ़ इण्डस्ट्रीज**, 1970, से लिये गये हैं

किस प्रकार का स्वामित्व है	प्रति कर्मचारी स्थायी पूंजी रु० में	प्रति कर्मचारी बढ़ा मूल्य रु० में	लागत पूंजी पर बढ़ा मूल्य (3/2)
1	2	3	4
सार्वजनिक क्षेत्र	48,923	6,146	0.125
संयुक्त क्षेत्र	27,490	7,592	0.276
निजी क्षेत्र	9,256	6,927	0.748
सभी क्षेत्र	19,656	6,762	0.344

7

विदेशी ऋण व सहयोग

सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योग की स्थापना के साथ-साथ मौजूदा निजी उद्योग के राष्ट्रीयकरण से भारत पर विदेशी क़र्ज का बोझ नाजायज ढंग से बढ़ा है। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो अंग्रेज रिज़र्व बैंक में 1,180 करोड़ रुपये के सिक्के व सोना तथा अन्य क़ीमती धातुएँ छोड़कर गये थे। इसके अलावा इंग्लैण्ड 1,733 करोड़ रुपये का देनदार था (हमारा कर्जदार था) और हमें युद्ध-पूर्व ऋण के भुगतान में 425 करोड़ रुपये मिलने थे और 115 करोड़ रुपये ब्रिटिश साम्राज्य के पास जमा डालरों में से हमारे हिस्से के रूप में हमें मिलने थे। यानी कुल मिलाकर हमारे पास 3,453 करोड़ रुपये थे। परन्तु आज स्वतन्त्रता के बाद निर्यात की मात्रा बढ़ जाने व विदेशी शासकों के रख-रखाव के लिए रुपया भेजना बन्द हो जाने पर भी भारत क़र्ज़ का शिकार हुए देशों में सबसे पहले गिना जाता है।

1972 में भारत का विदेशी ऋण उसकी राष्ट्रीय आय का 20.2 प्रतिशत था जो उन सभी देशों से अधिक मात्रा थी जिनके आँकड़े उपलब्ध हैं।

1950-51 तक हम वह सभी धन, जो अंग्रेज यहाँ छोड़ गये थे, पानी की तरह बहा चुके थे और हम विदेशों के 32 करोड़ रुपये के क़र्ज़दार हो चुके थे। आगामी पृष्ठ की तालिका से मालूम होगा कि हमें 1951-76 की अवधि में 17,654.6 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता मिली जिसमें से 1,288.8 करोड़ रुपया अर्थात् 7.3 प्रतिशत हमें पूर्णतः अनुदान के रूप में मिला। इस 17,654.6 करोड़ की राशि में वह बीस लाख मीटरी टन गेहूँ शामिल नहीं है जो हमें 1972-73 में सोवियत संघ से इसलिए मिला था कि हम ईरान से मँगाये गये तेल के एक अंश का भुगतान कर दें। और न इसमें 1,664 करोड़

रुपये की वह भारी रक़म शामिल है जो अमेरिका के पी० एल० 480 के अंतर्गत हमारे ऊपर क़र्ज़ के तौर पर थी और जिसे अमेरिका ने 1974 में बट्टेखाते में डाल दिया। यह जो क़र्ज़ की 17,654 करोड़ रक़म है उसमें से मार्च 1976 तक हमने 3,435.8 करोड़ रुपया मूलधन की मद में और 1,989.8 करोड़ रुपया ब्याज के रूप में यानी कुल मिलाकर 5.425.6 करोड़ रुपया भुगतान कर दिया। 1976-77 में क़र्ज़-अदायगी के लिए हमें 760.7 करोड़ रुपया देना था, जिसका अर्थ है कि हमें कुल 6,186.3 करोड़ का भुगतान करना बाक़ी था।

कुल विदेशी सहायता, अनुदानों, क़र्ज़ों व सर्विस चार्जों का हिस्सा, और प्राप्त वास्तविक सहायता

(करोड़ रुपयों में)

अवधि	कुल विदेशी सहायता*	कुल सहायता में अनुदान का हिस्सा	कुल ऋण सर्विसिंग (ऋण का भुगतान + ब्याज का भुगतान)†	वास्तविक आयी सहायता
पहली योजना तक	317.7	34 8	23.8	293.9
दूसरी योजना के दौरान (1956-61)	2252.6	11.2	119.4	2,133.2
तीसरी योजना के दौरान (1961-66)	4531.0	3.7	542.6	3,988.4
1966-67	1131.4	8.6	274.5	856.9
1967-68	1195.6	5.1	333.0	862.6
1968-69	902.6	7.2	375.0	527 6
1969-70	856.3	3.0	412.5	443.8
1970-71	791.4	5.5	450.0	341.4
1971-72	834.1	6.1	479.3	354.8
1972-73	666.2	1.8	507.4	158.8
1973-74	999.3	2.4	595.8	403.5
1974-75	1337.4	7.0	626.0	711.4
1975-76	1839.0	15.4	686.3	1,152.7
जोड़	17,654.6	7.3	5,425.6	12,229.0

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे, 19:6-77, तालिका 7.4 और 7.6, पृ० 114 व 116

*विदेशी मुद्रा में दिखायी गयी रक़म को अवमूल्यनोत्तर दर के (एक डालर बराबर 7.50 रुपये के) आधार पर 1970-71 तक रुपयों में बदल दिया गया हैं। 1972-73 के लिए रुपयों के आँकड़े उन केन्द्रीय दरों के आधार पर लिये गये हैं जो दिसम्बर 1971 के मुद्रा पुनरांकन के बाद प्रचलित थे। 1973-74 के लिए रुपये के समकक्ष आँकड़ों पर पहुँचने के लिए उपयोगिता के तिमाही आँकड़ों पर व्यक्तिगत दाता मुद्रा के साथ रुपये की विनिमय दर की तिमाही औसत लागू की गयी है। 1974-75 के लिए उपयोगिता सम्बन्धी आँकड़े चालू दरों पर निकाले गये हैं। 1975-76 के लिए उपयोगिता सम्बन्धी आँकड़े व्यक्तिगत दाता मुद्रा के साथ उन तारीख़ों की दैनिक दरों पर आधारित हैं।

†इन आँकड़ों का सम्बन्ध उन अदायगियों से है जो विदेशी मुद्रा व वस्तुओं के निर्यात से की गयी। पहली तीन योजनाओं के लिए रुपये में परिवर्तन अवमूल्यन-पूर्व विनिमय (1 डालर बराबर 4.7619 रुपये के) दर पर किये गये हैं। और 1970-71 तक, बाद के तीन वर्षों के लिए यह परिवर्तन अवमूल्यनोत्तर विनिमय (1 डालर बराबर 7.50 रुपये) दर पर किये गये हैं।

सहयोग

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना था कि विदेशी पूंजी के प्रयोग का एक तरीक़ा तो क़र्ज लेना है, दूसरा तरीक़ा है ऐसे विदेशी पूंजी लगाने वालों को आकर्षित करना जो भारत में मशीनें व कारखाने लगाने में दिलचस्पी रखते हों। यह कारख़ाने रोज़गार तो देंगे ही, साथ में तकनीकी जानकारी तथा प्रबन्ध-दक्षता भी मुहैय्या करेंगे—और भारत में तकनीकी जानकारी व प्रबन्धकीय दक्षता की कमी है। पूंजी व उस पर ब्याज की वापसी का या राजनीतिक शर्तों का कोई प्रश्न नहीं होना चाहिए। इसलिए 'सहयोग' के नाम पर विदेशी पूंजी आमन्त्रित की गयी।

पहले ही कहा जा चुका है कि नेहरू तो उद्योग के मूर्ति-पूजक थे। वह विदेशी पूंजी को लाने के लिए—चाहे वह क़र्जों की शक्ल में हो चाहे विदेशी पूंजीपतियों द्वारा यहां लगायी गयी हो—कमर कसकर जुट गये। उस समय भी कुछ लोगों ने इस नीति से पैदा हो सकने वाले ख़तरों के बारे में सचेत किया था। वह चेतावनियां सही साबित हुईं। अब मालूम होता है कि भारतीय वित्तीय संसाधनों का विदेशियों द्वारा लूटे जाने का ही दूसरा नाम विदेशी सहयोग है।

इण्डिया इंवैस्टमेंट सैन्टर के अध्यक्ष आर० एस० भट्ट ने 20 अगस्त 1975 को नयी दिल्ली में एक समाचार-सम्मेलन में बड़े गर्व के साथ कहा कि कई विदेशी कम्पनियों की राय है कि उनके सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति के

मार्गदर्शक सिद्धान्त 'उचित व वाजिब' हैं और दुनिया में किसी अन्य देश में विदेशी कम्पनियों को 74 प्रतिशत तक इक्विटी शेयर लेने की इजाजत नहीं है।

इस नीति का नतीजा यह हुआ है कि स्वतन्त्रता मिलने पर जो विदेशी पूंजीपति अपना बोरिया-बिस्तर बांधे यहां से चले जाने के लिए तैयार बैठे थे, उन्होंने यहां बने रहना तय कर लिया। और, भारत में लगी विदेशी पूंजी बढ़ने लगी। 1948 में हमारे यहां 260 करोड़ रुपये की विदेशी पूंजी थी जो बढ़कर मार्च 1969 में 1,611.8 करोड़ और 1973 में 1,8.6.3 करोड़ हो गयी—और यह हुआ तब जबकि हमारा दावा है कि हमने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शोषण से अपने देश को स्वतन्त्र कर लिया है। आज एक विदेशी शोषक के बजाय कई विदेशी शोषक हैं और उन्होंने पिछले 25 वर्ष में हमारा शोषण पहले की अपेक्षा सात गुना बढ़ा लिया है। भारत में लगी निजी विदेशी पूंजी का ब्यौरा नीचे दिया जाता है :

अलग-अलग देशों से आयी भारत में लगी विदेशी पूंजी

(लाख रुपयों में)

देश	मार्च के अन्त में				
	1969	1970	1971	1972	1973
1	2	3	4	5	6
इंग्लैण्ड	6,36,70	6,17,90	6,17,50	6,41,00	6,49,60
अमेरिका	4,33,90	4,31,30	4,56,70	4,84,80	5,09,70
पश्चिमी जर्मनी	1,04,00	1,15,70	1,19,60	1,36,70	1,56,20
इटली	73,40	90,20	91,10	84,00	78,70
जापान	81,40	71,30	60,30	54,70	49,30
स्विटजरलैंड	32,40	44,50	46,30	46,40	48,80
फ्रांस	56,00	53,20	48,10	49,50	47,20
कनाडा	18,50	20,60	23,80	28,00	29,80
स्वीडन	18,60	18,80	19,50	20,20	20,50
अन्य देश	76,60	96,20	1,11,50	1,20,30	1,18,30
अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं	87,80	81,20	85,20	90,10	1,08,20
कुल जोड़	16,19,30	16,40,90	16,79,60	17,55,70	18,16,30

स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, मई 1976

विदेशी कम्पनियां विभिन्न रूपों में रुपया बाहर भेजती हैं। 1972-73 में उन्होंने 88 करोड़ 88 लाख रुपया बाहर भेजा। 1971-72 और 1972-73 में बाहर भेजी गयी रक़म का ब्यौरा नीचे दिया जाता है :

(लाख रुपयों में)

शीर्ष	1971-72	1972-73
मुनाफ़े	9,94	15,54
लाभांश	38,87	39,08
रायल्टी	5,86	7,33
तकनीकी जानकारी	13,90	11,33
निजी क्षेत्र द्वारा ब्याज का भुगतान	12,13	15,60
कुल जोड़	80,70	88,88

संसद की सार्वजनिक संस्थान समिति इस नतीजे पर भी पहुंची है कि भारत में आवश्यक प्रौद्योगिकी उपलब्ध होने पर भी सार्वजनिक संस्थान उसके लिए बिना सोचे-समझे विदेशी तकनीकी सहयोग के समझौते करते रहे हैं। लोक सभा को दी गयी अपनी 80वीं रिपोर्ट में समिति ने इस तरह के कई उदाहरण दिये हैं जिनमें स्थानीय सार्वजनिक संस्थानों के पास उपलब्ध प्रौद्योगिकी के लिए निजी कम्पनियों ने विदेशियों से सहयोग के लिए समझौते किये। एक उदाहरण यह है कि हिन्दुस्तान ऑर्गेनिक कैमीकल्स, पुणे के पास नाइट्रोटेलोयूम की प्रौद्योगिकी मौजूद थी, फिर भी बम्बई की एक फ़र्म ने इसके लिए विदेशी सहयोग का समझौता कर लिया। एक उदाहरण यह है कि इण्डियन ऑक्सीजन लिमिटेड ने ऑक्सीजन के एक प्लांट के लिए विदेशी सहयोग का समझौता कर लिया जबकि उसके लिए आवश्यक प्रौद्योगिकी भारत हैवी प्लेट एण्ड वैसिल्स, विशाखापटनम, के पास उपलब्ध थी। टैक्सामको, कलकत्ता, ने एक इण्डस्ट्रियल बायलर के लिए विदेशी समझौता किया जबकि त्रिची स्थित बी० एच० ई० एल० के पास आवश्यक प्रौद्योगिकी मौजूद थी। कितनी ही अन्य मिसालें दी जा सकती हैं, लेकिन जो मिसालें यहां दी गयी हैं, वे यह बताने के लिए काफ़ी हैं कि किस प्रकार बिना सोचे-समझे विदेशी सहयोग के लिए समझौते किये जाते हैं। भारत की जनता को यह जानकर आश्चर्य होगा कि अभी हाल में ही अर्थात् 1975 में विदेशी कम्पनियों को अपनी उत्पादन क्षमता 25 प्रतिशत बढ़ाने की इजाज़त दी गयी है। यदि जांच की जाय तो यह पता चलने पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हमारे प्यारे देश की इस लूट में कुछ राजनीतिक नेता भी साझेदार थे।

आज अधिकतर ग़रीब देशों की तरह भारत भी धनी देशों पर न केवल विकासात्मक सहायता के लिए बल्कि प्रौद्योगिकी के लिए भी आश्रित है। विदेशी पूँजी के साथ विदेशी प्रौद्योगिकी भी आयी। जब एक अन्धे को खाने के लिए आमंत्रित किया जाय तो दो आदमियों के लिए खाना पकाना चाहिए क्योंकि दोनों अभिन्न होते हैं। सच तो यह है कि विदेशी पूंजी व विदेशी प्रौद्योगिकी को जान-बूझकर आमंत्रित किया गया था। विदेशी 'सहयोग' की नीति की मुख्य वजह विदेशी पूंजी के साथ-साथ विदेशी प्रौद्योगिकी भी थी। कोई सार्वजनिक भाषण ऐसा नहीं होता था जिसमें नेहरू भारत के लिए 'उन्नत' प्रौद्योगिकी की आवश्यकता की चर्चा न करते हों। वह भूल जाते थे कि 'उन्नत' प्रौद्योगिकी का अर्थ भूमि या पूंजी की प्रति इकाई उत्पादन बढ़ाना नहीं बल्कि काम में लगे प्रति श्रमिक या प्रति उद्यमी उत्पादन बढ़ाना है—जिसका नतीजा हुआ यह कि आयों में असमानता बढ़ी, बेरोज़गारी बढ़ी, आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण बढ़ा, और यही वे रोग थे जिनको हमारे संविधान के निर्माता दूर करना चाहते थे।

नयी दिल्ली में 25 नवम्बर 1976 को इण्टरनेशनल चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स की इण्डियन नेशनल कमेटी के समक्ष भाषण करते हुए तत्कालीन विदेश मन्त्री वाई० बी० चह्वाण ने यह स्वीकार किया कि "विदेशी पूंजी अपने साथ ऐसी पूंजी-प्रधान प्रौद्योगिकी लेकर आयी जो अतिरिक्त श्रम वाले देशों की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। अतिरिक्त श्रम वाले विकासोन्मुख देशों में तो पूंजी की कमी है इसलिए उसे कम खर्च करना चाहिए।" यह स्मरणीय है कि यही चह्वाण थे जिन्होंने देश में "प्रौद्योगिकी के अभाव को दूर करने के लिए" निजी विदेशी पूंजी के आयात की नीति का समर्थन लोक सभा में किया था। बहरहाल, पास में न आवश्यक मात्रा में पूंजी है, न आवश्यक मात्रा में प्रौद्योगिकी जिसकी वजह से हम दूसरों की सहायता का सहारा लेने के ऐसे कुचक्र में फंस गये हैं जिसका कहीं अन्त नहीं है। दुख की बात है कि हमारे राष्ट्र का आर्थिक विकास विदेशी पूंजी, विदेशी मशीनों और विदेशी प्रौद्योगिकी पर निर्भर है।

चीन व जापान के उदाहरण इसके विपरीत हैं। चीन ने असम्भव कठिनाइयों का सोलह वर्ष से, अर्थात् जब से सोवियत संघ ने अपने टेक्निशियन वहाँ से वापस बुला लिये थे, विदेशी उपायों व विदेशी सहायता के विरुद्ध संघर्ष किया है और अपनी समस्याओं के अपने हल खोजे हैं। जापान ने विदेशी प्रौद्योगिकी का आयात तभी किया जब उसके बिना काम नहीं चल पाया। लेकिन न विदेशी पूंजी का आयात किया, न विदेशी प्रबन्ध का। जापानी अर्थशास्त्रियों के अनुसार "इस नीति का नतीजा यह हुआ है कि स्थानीय उद्यम के विकास को प्रोत्साहन मिला है और जापानी अर्थव्यवस्था के अन्दर विदेशी 'उपनिवेश' नहीं बन पाये हैं जैसा कि अल्पविकसित देशों में हुआ है।"

8

निजी क्षेत्र व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण

भारतीय संविधान में लिखित निदेशात्मक तत्वों का अनुगमन करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1971 में लोकसभा के चुनाव घोषणा-पत्र में यह वायदा किया था कि वह "आर्थिक सत्ता व सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण" रोकेगी क्योंकि केन्द्रीकरण "जनतन्त्र व सामाजिक न्याय की संकल्पना के विपरीत है।" लेकिन दूसरे क्षेत्रों की तरह इस सवाल पर भी अधिकृत दस्तावेजों में व्यक्त किये गये सुन्दर विचारों को आगे चलकर ठोस कदम उठाने में पूरी तरह से झुठला दिया गया। भला हो भारी उद्योग का, हमारे यहाँ हर वर्ष सम्पत्ति व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण चौकड़ियाँ भर-भर कूदकर बढ़ रहा है। इन्दिरा गांधी के शासन के दस वर्षों में सबसे ऊपर के 10 व्यावसायिक घरानों की कुल परिसंपत्ति 1966 में 2,335 करोड़ रुपये से बढ़कर 1975-76 में 5,111 करोड़ रुपये हो गयी। यह 120 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

18 सितम्बर 19 1 के इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इण्डिया में ए० एन० ओझा ने 'भारतीय बड़ा व्यवसाय कितना बड़ा है' शीर्षक लेख में इस वृद्धि पर बड़ी खूबी के साथ रोशनी डाली है। नीचे का विवरण उसी लेख पर आधारित है।

1966 में 290 कम्पनियाँ बिड़ला घराने के नियन्त्रण में थीं और 70 कम्पनियाँ टाटाओं के अधिकार में थी। बांगड़ों के पास 93 कम्पनियाँ थीं, सूरजमल नागरमल के पास 104, मफ़तलाल के पास 34 और थापरों, जे० के० (सिंघानिया), श्रीराम व साहू जैन के नियन्त्रण में क्रमशः 59, 47, 36 और 29 कम्पनियाँ थीं। कुल मिलाकर 1966 में सबसे चोटी के 20 व्यावसायिक घरानों के पास, जिनमें से हर एक की परिसंपत्तियों का मूल्य 35 करोड़ रुपये से अधिक

था, कम-से-कम एक-सौ कम्पनियाँ थीं।

आगे (पृ० 86-88 पर) दी गयी तालिका में दिये गये आँकड़ों से सबसे बड़े व्यावसायिक घरानों के आकार व उनकी निवल परिसंपत्तियों में 1951 से 1975 तक हुई वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। इन आँकड़ों के स्रोत भी बता दिये गये हैं। यह आँकड़े अपना मतलब स्वयं बता देते हैं और उनका यहाँ उलथा करने की जरूरत नहीं है।

फिर भी, उनको समझने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए। इस तालिका में शामिल करने के लिए उन 23 व्यावसायिक घरानों को छाँटा गया है जो 1971 में सबसे बड़े थे। इसलिए पहले के वर्षों के लिए उन घरानों के भी आँकड़े दिये गये हैं जो पहले तो चोटी के 20 में नहीं थे लेकिन 1971 में थे। दूसरी बात यह है कि हज़ारी के 1951 के आँकड़े सिर्फ़ पब्लिक कम्पनियों के बारे में हैं और अन्त में, 1972-73 व 1975-76 के लिए **इकॉनॉमिक टाइम्स** के आँकड़ों की प्रामाणिकता का आश्वासन नहीं दिया जा सकता —उदाहरण के लिए उनमें सूरजमल नागरमल के बारे में आँकड़े नहीं शामिल हैं, हालाँकि यह घराना 1971 में ग्यारहवाँ था।

केन्द्रीकरण का परिमाण

हर कालम में कोष्ठकों में दी गयी संख्या उस घराने का आकार के अनुसार रुतबा बताती है। इन रुतबों से इन घरानों के बढ़ते हुए क़दमों और मुनाफ़ों का पता चलता है। उदाहरण के लिए 1963 में मफ़तलाल का रुतबा 16वाँ था लेकिन वह 1971 में कूदकर तीसरा हो गया। 1963 में किर्लोस्कर का रुतबा 36वाँ था लेकिन वह इतनी तेज़ी से बढ़ा कि 1971 में 15वाँ हो गया। इसके विपरीत 1966 में सूरजमल नागरमल का रुतबा छठा था लेकिन गिरकर 1971 में ग्यारहवाँ हो गया।

बड़ी विदेशी कम्पनियाँ बड़े भारतीय व्यवसाय का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। यह इससे मालूम होता है कि देश की सबसे बड़ी कम्पनियों में लगभग 20-25 विदेशी कम्पनियाँ हैं और उनकी कुल परिसंपत्ति 20 बड़े घरानों की कुल परिसंपत्तियों के जोड़ का 15 से 20 प्रतिशत तक है। इसके अतिरिक्त 25 चोटी के घरानों में दो के—आई० सी० आई० व पैरी के—घनिष्ठ विदेशी सम्बन्ध हैं। पिछले दस वर्षों में 20 सबसे बड़ी विदेशी कम्पनियों की परिसंपत्ति में 138 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

विशेष पक्षपात

दत्त कमेटी की रिपोर्ट से मालूम होता है कि जारी किये गये लाइसेंसों की

बड़े व्यावसायिक घरानों के आकार व उनकी वृद्धि : उनकी कुल परिसंपत्ति

(करोड़ रुपयों में)

व्यावसायिक घराना	1951 (रकह)[1]	1958 (रकह)[1]	1963 (मइक)[2]	1966 (इलप)[3]	1971 (कम्पनी विभाग की रिपोर्ट)	1975-76 (इकॅनॉमिक टाइम्स)	1963 व 1971 में प्रतिशत वृद्धि	1972 व 1976 में प्रतिशत वृद्धि
1	2	3	4	5	6	7	8	9
टाटा	116	303	418(1)	505(1)	818(1)	975(2)	96	42.2
बिड़ला	153	294	304(2)	458(2)	726(2)	1065(1)	139	46.7
मफ़तलाल	13	25	46(16)	93(7)	235(3)	284(3)	411	29.9
मार्टिन बर्न	41	112	150(3)	153(3)	173(4)	—	15	—
बांगड़	20	54	78(5)	104(4)	149(5)	196(7)	91	40.0
थापर	16	47	72(7)	99(5)	145(6)	204(6)	101	54.7
आई० सी० आई०	—	—	37(19)	50(20)	137(7)	182(10)	270	24.3
ए० सी० सी०	22	49	77(6)	90(8)	129(8)	169(12)	68	23.3
श्रीराम	12	27	55(12)	74(10)	128(9)	187(8)	133	35.6

जे० के० सिंघानिया	37	39	59(10)	67(12)	119(10)	224(4)	102	63.8
सूरजमल नागरमल	—	—	81(4)	96(6)	114(11)	—	41	—
वालचन्द	13	20	55(11)	81(9)	103(12)	135(17)	87	35.9
साराभाई	—	—	43(17)	57(16)	97(13)	183(9)	126	40.9
किलिक्स एंड कम्पनी	—	—	42(18)	51(13)	—	139(16)	—	48.8
मैकनील बेरी/बिन्नी	—	—	50(13)	57(15)	97(14)	—	94	—
किर्लोस्कर	2	6	19(36)	43(23)	95(15)	177(11)	400	54.8
बजाज	—	—	21(30)	35(18)	अप्राप्य	143(15)	—	51.1
साहू जैन	130	257	68(8)	59(14)	93(16)	—	37	—
सिंधिया	25	48	47(14)	56(17)	90(17)	217(5)	92	70.9
बर्ड हाइलजर्स	34	47	60(9)	69(11)	85(18)	—	42	—
लार्सन टोब्रो	—	—	—	—	—	114(19)	—	109.0
गोयनका	—	—	47(15)	65(13)	79(19)	—	68	—
कस्तूरभाई लालभाई	13	22	34(21)	51(18)	76(20)	109(20)	124	27.3
मोदी	—	—	11(55)	19	—	116(18)	—	86.4
टी० वी० सुन्दरम अयंगार	—	—	22(27)	44(22)	74(21)	—	236	—

1	2	3	4	5	6	7	8	9
महिन्द्रा	1	12	20(33)	38(26)	72(22)	144(14)	260	73.2
पैरी	—	—	12(52)	42(24)	70(23)	148(13)	483	33.2
सबसे ऊपर के 20 घरानों का जोड़	648	1,362	1,823	2,335	3,688	5,111	102.3	45.3
सबसे ऊपर के 10 घरानों का जोड़	594	1,250	1,367	1,753	2,759	3,717	102.8	43.3

रकह = आर० के० हज़ारी की रिपोर्ट।

मइक = मोनोपलीज़ इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट;

इलप = इण्डस्ट्रियल लाइसेंसिंग पॉलिसी कमेटी रिपोर्ट;

कोष्ठकों में दी गयी संख्या रुतबा बताती है।

संख्या तथा लाइसेंसों की स्वीकृत की गयी रक़म—दोनों में से 20 बड़े घरानों ने अनुपात से ज्यादा भाग प्राप्त कर लिया। जितने लाइसेंस जारी किये गये उनमें से 20 प्रतिशत इन घरानों को मिले और जितनी लागत के लिए कुल लाइसेंस जारी किये गये उसकी 41 प्रतिशत लागत इनको मिले लाइसेंसों के अन्तर्गत आ जाती है। इन 20 घरानों द्वारा लाइसेंसों के लिए दिये गये प्रार्थना-पत्रों में से केवल 20 प्रतिशत खारिज किये गये जबकि ग़ैर-बड़े घरानों के प्रार्थना-पत्रों में से 66 प्रतिशत खारिज किये गये।

लाइसेंस जारी करने में बड़े घरानों के साथ कई विशेष तरीक़ों से पक्षपात किया जाता है। ये तरीके हैं: (1) जल्दी सूचना देना। विशेष पार्टियों को खास परियोजनाओं के बारे में पहले से सूचना दी जाती है और परियोजना स्वीकार किये जाने पर उसके अनुसार उन पार्टियों के आवेदन-पत्र माँगे जाते हैं (जैसे बिड़लाओं की एल्यूमिनियम परियोजना)। (2) विशेष पार्टियों की सुविधा के लिए किसी विशेष वस्तु के लिए नयी उत्पादन-दक्षता पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये जाते हैं (जैसे श्रीराम की कैलशियम कारबाइड परियोजना)। (3) जल्दी से फ़ैसला। अधिकतर प्रार्थना-पत्रों पर अन्तिम निर्णय लेने में महीनों और सालों लग जाते हैं लेकिन जिन पार्टियों के साथ पक्षपात करना होता है उनके बारे में 'ऊपर से' आयी हिदायतों के अनुसार बड़ी जल्दी ही फ़ैसला हो जाता है। इसका खास उदाहरण यह है कि एक विदेशी पार्टी (प्योर ड्रिंक्स) को 'सॉफ़्ट ड्रिंक' (शर्बत-सोडा आदि—अनु०) बनाने के लिए महज़ एक दिन के अन्दर लाइसेंस जारी कर दिया गया। (4) अपर्याप्त संपरीक्षण। कुछ खास बड़े घरानों को बिना पर्याप्त छान-बीन के कुछ खास उत्पादों के लिए लाइसेंस दिये गये (जैसे बिड़लाओं की रेयोन की परियोजना, कस्तूरभाई की सूपर फ़ॉस्फ़ेट परियोजना)। (5) 'फ़ाइल पर' फ़ैसले लिये जाना—अर्थात लाइसेंसिंग की सामान्य कार्य पद्धति की अवहेलना करके निर्णय लिये गये। इस प्रकार बड़े घरानों के लगभग 50 प्रार्थना-पत्रों पर पक्षपात-पूर्ण फ़ैसले किये गये (उदाहरण के लिए बाँगड़ों की वायर प्रोडक्ट्स परियोजना)।

प्रतिद्वन्द्वियों के लिए दरवाज़े बन्द करना

पक्षपात के मामलों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निजी पूंजी लगाने पर लाइसेंसिंग के प्रतिबन्धों को बड़े घराने वालों ने लाइसेंस दी जाने वाली उत्पादन-दक्षताओं को क्रम से पूर्व प्राप्त करके व दूसरों को धकिया कर—दूसरे शब्दों में पहले से ही हथियाकर—अपने फ़ायदे के लिए और कम साधनों वाले अपने प्रतिद्वन्द्वियों के वास्ते, जिनको उद्योग संस्थान के आकार का लाभ प्राप्त नहीं है, दरवाज़ा बन्द करने के लिए इस्तेमाल किया है। बड़े

घरानों ने उसी उत्पाद के लिए कई-कई और बार-बार प्रार्थना-पत्र देकर लाइसेंस प्राप्त करके और प्राप्त लाइसेंसों पर नावाजिब तौर से लम्बे अर्से तक काम शुरू न करके दूसरों का रास्ता रोक दिया है। इस ढंग से होता यह है कि लाइसेंस मिल गया तो जब तक वे उस पर काम शुरू नहीं करते तब तक किसी अन्य पार्टी को यह कहकर लाइसेंस नहीं दिया जायगा कि उस उत्पाद के लिए अब गुंजायश नहीं है। टाटाओं तक ने, जो अपने को अन्य व्यावसायिक घरानों से 'भिन्न' समझते हैं, लगभग छह लाइसेंसों पर तीन से छह वर्ष तक या उससे अधिक तक काम शुरू नहीं किया। बड़े घराने नये उद्योगपतियों को अपने क्षेत्र में घुसने से रोकने के लिए उससे अधिक उत्पादन-क्षमता खड़ी कर लेते हैं जिसका उन्हें लाइसेंस दिया जाता है (उदाहरण के लिए 25 ऐसे लाइसेंसों में से जिनकी उत्पादन-क्षमता लाइसेंस में दी गयी क्षमता की दो गुनी है, दो बिड़लाओं के पास हैं और दो टाटाओं के)।

बहुत लोग इस प्रचार को सही मान बैठते हैं कि बड़े घरानों व विदेशी कम्पनियों ने भारत के औद्योगिक विकास के लिए बहुत कुछ किया है। लेकिन उनका यह दावा मानने से पहले नीचे दिये गये तथ्यों पर विचार करना चाहिए।

सबसे बड़ा भाग

बड़े घरानों के पास इतने अधिक मानवीय व अन्य साधन हैं, फिर भी उन्होंने स्वदेशी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया है। बहुत हद तक उनकी संवृद्धि विदेशी प्रौद्योगिकी व विदेशी पूंजी के आयात पर निर्भर करती है। 1956 से 1968 तक जितने विदेशी सहयोगों को अनुमति दी गयी उनमें से लगभग एक-चौथाई 20 चोटी के बड़े घरानों को मिले और पूंजीगत माल के आयात में से 40 प्रतिशत उनके हिस्से में आने की अनुमति दी गयी। 1968 के बाद से विदेशी सहयोग तेज़ी से बढ़े हैं और अधिकतर का सम्बन्ध बड़े घरानों से है। विदेशी पूंजीपति बड़े घरानों के साथ हीं सहयोग करना पसन्द करते हैं और बड़े घराने भी विदेशी पूंजी पसन्द करते हैं। आधारिक-संरचना उद्योग के जिस नये व आधुनिक क्षेत्र में भी उन्होंने प्रवेश किया है, विदेशी प्रौद्योगिकी व विदेशी पूंजी की सहायता से ही किया है। बड़े घरानों के पूंजी लगाने के जितने सुझाव स्वीकार किये गये हैं उनमें से लगभग 40 प्रतिशत में विदेशी सहयोग रहा हैं और हजारी के अनुसार जितनी पूंजी इन घरानों ने लगायी है उसमें से 60 प्रतिशत आयात की हुई है। दूसरी बात यह कि बड़े घरानों ने जो भी बड़ी परियोजनाएं हाथ में ली हैं उनके लिए अपने-आप पूंजी एकत्र करने की उन्होंने नाम मात्र को ही कोशिश की हैं और उनकी

परियोजना-लागत का लगभग 50 प्रतिशत सार्वजनिक वित्तीय संसाधनों से आया है। संस्थागत वित्त-प्रवाह का सबसे बड़ा भाग उनके पास ही गया है। इस मामले में भी वे अपने छोटे व मँझोले-स्तर के प्रतिद्वंद्वियों से आगे हैं।

तानाशाही राजनीति

ऊपर जो कुछ बताया गया है उसकी रोशनी में यह बिलकुल आश्चर्यजनक नहीं मालूम होता कि बड़े व्यावसायिक घरानों ने व उनके अखबारों ने आपात-स्थिति के दिनों में हर तरह से श्रीमती गांधी का साथ दिया। वे बहुत अच्छी तरह जानते थे कि उनको प्राप्त सुविधाएँ आपातस्थिति के कारण बहुत अधिक बढ़ जायेंगी। न संसद होगा, न कोई विरोधी सदस्य उनके रास्ते में बाधक बन सकेगा या शासकों से उनके सम्पर्कों के बारे में पूछ-ताछ कर सकेगा। न कोई मजदूर-सभाएँ होंगी जो उनके मुनाफ़ों में हिस्सा बटायेंगी या वफ़ादार मैनेजरों को परेशान करेंगी। और दलित-पीड़ित लोगों व जनतन्त्र की दुहाई देते हुए श्रीमती गांधी उनको सभी सुविधाएँ देती जायें तो आपातस्थिति में उनकी पाँचों उँगलियाँ घी में होंगी। उनके लिए आपातस्थिति से होने वाले लाभ उससे कहीं अधिक थे जो कष्ट दो-चार गोयनका या वीरेन शाह जैसे उनके भाई-बन्दों ने उठाये। दो-चार हठधर्मी व्यक्तियों के हितों के कारण वे बड़े व्यवसाय के समूचे वर्ग के हितों को तो नहीं छोड़ सकते थे।

इतिहास भी बताता है कि जर्मनी व जापान में बड़े व्यवसाय ने ही जनतन्त्र को बर्बाद किया। अमेरिका में भी जो सबसे बृहद जनतन्त्र है, बड़े व्यवसाय ने ही निक्सन की सत्तावादी राजनीति का समर्थन किया। आइज़नहॉवर ने अपने देश के लोगों को 'सैनिक-उद्योगों' के खतरे के बारे में बेकार ही चेतावनी नहीं दी थी। आपातस्थिति में भारत में बड़े व्यवसाय की भूमिका से मालूम होता है कि वह दूसरे देशों से भिन्न नहीं है।

9

दोहरी अर्थव्यवस्था

भारी या पूँजी-प्रधान उद्योग ने—चाहे वह निजी क्षेत्र में हो, चाहे सार्वजनिक क्षेत्र में—एक ऐसी दोहरी अर्थव्यवस्था बनाकर खड़ी कर दी है जिसमें ग़रीबी, बेरोज़गारी व गतिहीनता के बीच कहीं-कहीं समृद्धि के छोटे-छोटे द्वीप दिखायी देते हैं। एक ओर तो ऊपर सम्पत्ति का केन्द्रीकरण हुआ है, दूसरी ओर नीचे की सतह पर दसियों लाख व्यक्ति बेरोज़गारी व अल्परोजगारी का शिकार होने से कंगाल होते जा रहे हैं। 'ग़रीबी हटाओ' का दावा करने वाले दल की, जिसके हाथों में अभी हाल तक शासन था, नीतियों का नतीजा है कि एक ओर तो इजारेदार घराने पैदा हो गये जिनके पूंजी-स्टाक व मुनाफ़े बराबर बढ़ते जा रहे हैं और दूसरी ओर गाँवों की झोपड़ियों में व शहरी गन्दी बस्तियों में ऐसे करोड़ों लोग रहते हैं जिनको न भरपेट खाना मिलता है, न तन ढंकने-भर कपड़ा। एक ओर कुछ दस-बीस हज़ार व्यक्ति है जो ऐश-आसायश में डूबे रहते हैं और यह नहीं जानते कि छप्पड़-फाड़कर जो मुनाफ़ा उनको हुआ है या जो उन्होंने ग़लत ढंग से हासिल किया है, उसका क्या करें, और दूसरी ओर वे करोड़ों लोग हैं जो एक टुकड़ा रोटी के लिए तरसते हैं। यह तो सच है कि सदियों से भारत में अमीरों व ग़रीबों के बीच एक बहुत चौड़ी खाई रही है, लेकिन एक-चौथाई शताब्दी पहले स्वतन्त्रता मिलने के बाद वह खाई पाटे जाने के बजाय और भी चौड़ी की गयी है।

भारत जैसे सघन-खेती-प्रधान देशों के बारे में यह विचार सिद्धान्त के रूप में भी उतना ही ग़लत है जितना व्यवहार में साबित हुआ कि समृद्धि को प्राप्त करने के लिए उद्योगों का दृढ़ता के साथ इतना विस्तार किया जाय कि अधिकांश जनसंख्या उसमें लग जाय और धीरे-धीरे सकल राष्ट्रीय उत्पाद में संवृद्धि की

तेज गति के लाभ समाज के हर वर्ग तक पहुँच जायें। जहाँ श्रम की बहुतायत हो ऐसे देश में पूँजी-प्रधान उपायों का एक ही परिलाभ हो सकता था और वही हुआ है—एक ऐसी दोहरी अर्थव्यवस्था बन गयी है जिसमें गाँव व शहरी गन्दी बस्तियाँ रूपी दरिद्रता के विशाल महासागर में महानगरी खुशहाली के कुछ टापू हैं।

कारण स्पष्ट हैं और उनको खोजना कोई कठिन काम नहीं। प्रथम, बड़े व प्रौद्योगिक दृष्टि से बड़े और जटिल संस्थानों को चलाने के लिए प्रवीणता की आवश्यकता है, इसलिए मैनेजरों व इंजीनियरों को बहुत अधिक वेतन मिलता है। दूसरे, लागत जितनी पूँजी-प्रधान होगी उतनी ही कम ज़रूरत उसे श्रमिकों की होगी और उतनी ही अधिक उसकी उत्पादकता होगी। और चूँकि उनकी संख्या कम होती है और वे एक छोटे-से इलाके में एक साथ रहते हैं, इसलिए श्रमिकों के लिए यह आसान होता है कि वे एक होकर उत्पादों में से अधिक भाग की माँग करें। मालिक, चाहे राज्य हो चाहे कोई नागरिक, अधिक उत्पादकता की वजह से वेतन बढ़ा सकता है—नहीं बढ़ायेगा तो काम बन्द होने पर उत्पादन गिरने से उसे बहुत नुक़सान होगा।

वेतन अभिरचना की अन्यायपूर्णता, जो ट्रिब्यूनलों के तर्कहीन निर्णयों के कारण और भी बढ़ गयी है, तब स्पष्ट हो जाती है जब उद्योगों में तथा अन्यत्र मिलने वाले वेतनों की तुलना की जाय। एक संगठित उद्योग में सफ़ाई करने वाले को 400 रुपया प्रतिमास मिलता है, कार चलाने वाले ड्राइवर को 1200 रुपया और क्लर्क को 750 रु० से 900 रु० तक मिलता है। इसके विपरीत दोहरे (डबल) स्नातक को 450 रु० माहवार और विश्वविद्यालय के अर्हतायुक्त अध्यापक को 650 रु० माहवार मिलता है।

एक सर्वेक्षण से मालूम हुआ है कि बम्बई में व दूसरे शहरों में निम्न वर्ग के औद्योगिक मज़दूर 360 रु० से 1,400 रु० माहवार तक कमा लेते हैं। एक बड़े-स्तर के उद्योग में ट्रक ड्राइवर कॉलिज लैक्चरार से कहीं ज्यादा कमा लेता है। एक सरकारी स्वामित्व के व्यावसायिक बैंक के चपरासी को महीने में 450 रु० से 600 रु० तक और क्लर्क को 550 रु० से 1,300 रु० तक मिलता है।

भारत के जीवन बीमा निगम के तीसरे व चौथे वर्ग के कर्मचारियों के लिए वेतन तथा महँगाई भत्ते की कोई उच्चतम सीमा नहीं है। 1 अगस्त 1977 से तीसरे वर्ग के कर्मचारी अपने वेतन के 162 प्रतिशत की दर से महँगाई भत्ता पा रहे हैं और चौथे वर्ग के कर्मचारी 216 प्रतिशत की दर से। उदाहरण के लिए जीवन बीमा निगम के प्रथम व तीसरे वर्ग के कर्मचारियों को समान वेतन सीमा पर मिलने वाले महँगाई भत्ते के हिसाब से मिलाने वाली रक़म की तुलना करते हुए एक तालिका अगले पृष्ठ पर दी गयी है।

	तीसरी श्रेणी		पहली श्रेणी	
वेतन रु०	महँगाई भत्ता रु०	कुल मिलाकर[1] रु०	महँगाई भत्ता रु०	कुल मिलाकर रु०
530	859	1,389	710	1,240
610	988	1,598	870	1,480
690	1,118	1,808	880	1,570
770	1,247	2,017	890	1,660
850	1,377	2,227	890	1,740
920	1,490	2,410	875	1,805
1,600	—	—	755	2,355
2,250	—	—	135	2,385

1. इस प्रकार तीसरी श्रेणी के कर्मचारियों को जो मिलता है उसके अतिरिक्त उन्हें अपने मूल वेतन का 15 प्रतिशत बोनस मिलता है।

सरकारी नौकरियाँ भी पीछे नहीं रही हैं। औद्योगिक मज़दूरों व सार्वजनिक संस्थानों के कर्मचारियों के बारे में दिये गये तर्क उनके लिए भी सही हैं। इसके अलावा चुनाव के परिणामों में उनका बड़ा हाथ था। इसलिए उन्होंने भी अपनी आवाज उठायी और उसे तुरन्त सुना गया। हर साल वेतन बढ़े, महँगाई-भत्ते बढ़े—कभी-कभी तो हर तीन महीने के बाद बढ़े।

केन्द्रीय व राज्य कर्मचारियों तथा शक्तिशाली मज़दूर सभाओं के सबल समर्थन से संगठित सफ़ेदपोश व औद्योगिक मज़दूर एक ऐसे समाज में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग बन गये हैं जिसमें करोड़ों लोग, जनसंख्या के आधे लोग, ग़रीबी की रेखा के नीचे रहते हैं।

कांग्रेस पार्टी के समाजवाद से समाज के उच्चतम वर्ग में आयी असीम समृद्धि साफ़ दिखायी देती है। उसके रहन-सहन के ढंग में हुए परिवर्तन : चार और पाँच स्टार होटलों की संख्या में वृद्धि, जो बराबर भरे रहते हैं, विलासपूर्ण नाना सुविधाओं में वृद्धि, खचाखच भरे अवकाश विश्राम-स्थान, बहुमूल्य साज-सज्जा से युक्त आलीशान मकानों की संख्या में वृद्धि, और शादी-ब्याहों जैसे सामाजिक समारोहों में धन-दौलत का दिखावा—यह सभी उच्चतम वर्ग की समृद्धि दिखाते हैं। यह समृद्धि ऐसी विलासता की सामग्री के उत्पादन में हुई अतिवृद्धि के आँकड़ों में भी दिखायी देती है जो जनसाधारण की पहुँच के बाहर

हैं। आधुनिक उद्योग का आविर्भाव ही हुआ है उस वर्ग की जरूरतों को पूरा करने के लिए जिसमें अधिकांशत: शामिल हैं औद्योगिक मजदूर, सरकारी कर्मचारी जो अति धनी हैं, व मुख्यत: शहरों के रहने वाले और जिन्होंने रहन-सहन के पाश्चात्य ढंग को अपना लिया है।

आगे दो पृष्ठों (96-97) पर दिये गये आँकड़ों से मालूम होता है कि अमेरिका में तो राष्ट्रीय आय में चोटी के 20 प्रतिशत लोगों के भाग में गिरावट आयी और वह 1950 में 45.7 प्रतिशत से घटकर 1959 में 43 प्रतिशत रह गया, और श्रीलंका में भी 1952-53 में 53.9 प्रतिशत से घटकर 1963 में 42.3 प्रतिशत हो गया लेकिन भारत में वह बढ़ गया; 1953-57 के चार वर्षों में 42 प्रतिशत था और बढ़कर 1967-68 में 53.8 प्रतिशत हो गया। यही नहीं। अमेरिका में तो इसी दौरान निम्नतम 20 प्रतिशत जनसंख्या का राष्ट्रीय आय में भाग केवल 4 प्रतिशत कम हुआ व श्रीलंका में 12 प्रतिशत लेकिन भारत में 40 प्रतिशत घटा। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अमेरिका में तो चोटी के 10 प्रतिशत लोग 1959 में राष्ट्रीय आय का केवल 27.8 प्रतिशत भाग ले लेते थे जबकि भारत में 1967-68 में 36.5 प्रतिशत भाग। फिर भी अपनी समाजवादी नीतियों की तुलना में अमरीकी पूँजीवादी नीतियों की निन्दा करते हुए हम सरकारी स्तर पर बड़ी बेहयाई के साथ बराबर प्रचार करते रहे हैं।

बढ़ती बेरोज़गारी

अब हम भारी उद्योग के सबसे खराब नतीजे की तरफ़ ध्यान देंगे, अर्थात् बढ़ती बेरोज़गारी व अल्प-रोज़गार की ओर जिसने हमारे राष्ट्र को अन्दर से खोखला कर दिया है। नेहरू व उनके सलाहकारों को प्रौद्योगिकी व भारी उद्योग रूपी जुड़वाँ देवताओं पर अन्धविश्वास था। यह विश्वास गलत साबित हुआ। पश्चिम में श्रम की कमी थी, इसलिए आदमी की जगह मशीन से काम लेना जरूरी था, इसलिए पश्चिमी प्रौद्योगिकी का विकास हुआ। वह प्रौद्योगिकी उन देशों की समस्या का हल नहीं है जहाँ श्रमिकों को अल्परोजगार मिलता है और वे भर-पेट खाना नहीं पाते या जहाँ पूँजी की बेहद कमी है।

जब औद्योगिक क्रान्ति अपनी चरम सीमा पर थी तो भी इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में जनसंख्या वृद्धि की गति एक प्रतिशत प्रति वर्ष से कम थी। सारे यूरोप के लिए जनसंख्या वृद्धि की दर वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में जाकर 1.1 से अधिक हो पायी। इसके विपरीत एशिया, अफ्रीका व लातिनी अमेरिका के विकासशील देशों में 1952-72 में जनसंख्या वृद्धि की दर 2.4 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गयी। अल्पविकसित अथवा विकासशील देशों के पास प्राकृतिक साधन व पूंजी कम है और श्रम बहुत है। इसलिए उनमें से शायद ही कोई देश ऐसा

चुने हुए देशों में क्रमसूचक समूहों की (गृहस्थियों या करदाताओं के आधार पर) व्यक्तिगत आय का प्रतिशत भाग

देश व वर्ष	क्रमसूचक समूह के भाग				
	निम्नतम 20 प्रतिशत	निम्नतम 60 प्रतिशत	सर्वोच्च 20 प्रतिशत	सर्वोच्च 10 प्रतिशत	सर्वोच्च 5 प्रतिशत
1	2	3	4	5	6
अल्पविकसित देश					
भारत, 1953-54 से 1956-57 तक	8.00	36.00	42.00	28.00	20.00
श्रीलंका, 1952-53	5.1	27.7	53.9	40.6	31.0
मैक्सिको, 1957	5.4	21.2	61.4	46.4	37.0
बारबाडोस, 1951-52	3.6	27.1	51.6	34.2	22.3
प्योर्टोरिको, 1953	5.6	30.3	50.8	32.9	23.4
इटली, 1948	6.1	31.2	48.5	34.1	24.1
विकसित देश					
इंग्लैण्ड, 1951-52	5.4	33.3	44.5	30.2	20.9
पश्चिमी जर्मनी, 1950	4.0	29.0	48.0	34.0	23.6
नीदरलैण्ड्स, 1950	4.2	29.5	49.0	53.0	24.6
डैनमार्क, 1952	3.4	29.5	47.0	30.7	20.1
स्वीडन, 1948	3.2	29.1	46.6	30.3	20.1
अमेरिका, 1950	4.8	32.0	45.7	30.3	20.4

स्रोत : **रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया बुलेटिन**, सितम्बर 1963, पृ० 1140।

यूनाइटेड नेशन्स : "नेशनल इनकम एण्ड इट्स डिस्ट्रिब्यूशन इन अण्डर-डिवैलप्ड कंट्रीज", **स्टैटिस्टिकल पेपर्स**, सीरीज़ ई नं० 3, न्यूयार्क, 1951, पृ० 29।

यूनाइटेड नेशन्स, इकॅनॉमिक कमीशन फ़ॉर यूरोप, **इकॉनॉमिक सर्वे ऑफ़ यूरोप**—1956, जैनेवा, 1957, अध्याय 9, पृ० 6।

कुजनेत्स, साइमन, **क्वान्टिटेटिव आस्पैक्ट्स ऑफ़ द इकॉनॉमिक ग्रोथ ऑफ़ नेशन्स**, आठवां, **डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ़ इंकम बाई साइज़, इकॅनॉमिक डिवलपमेंट एन्ड कल्चरल चेंज**, जनवरी 1963, तालिका 3, पृ० 13-15।

यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट ऑफ़ कामर्स, **इन्कम डिस्ट्रिब्यूशन इन द यूनाइटेड स्टेट्स**, वाशिंगटन, 1953, तालिका 21, पृ० 85।

चुने हुए एशियाई देशों व अमेरिका में भारत की तुलना में
दशमक समूहों की पारिवारिक आय का भाग*

देश	वर्ष	दशमक समूह का कुल आय में प्रतिशत भाग									
		$द_1$	$द_2$	$द_3$	$द_4$	$द_5$	$द_6$	$द_7$	$द_8$	$द_9$	$द_{10}$
अमेरिका	1959	1.3	3.3	5.1	6.7	7.9	9.1	11.1	12.4	15.2	27.8
जापान	1963	3.0	4.7	5.7	7.3	7.9	9.0	10.4	12.0	16.0	24.0
ताइवान	1964	3.0	4.8	5.7	6.9	7.6	8.9	9.8	13.2	13.8	26.3
दक्षिणी कोरिया	1966	4.0	5.0	7.0	7.0	9.0	9.0	11.0	12.0	15.0	21.0
फ़िलीपाइन	1965	1.1	2.9	3.0	4.7	5.8	6.9	9.0	11.6	15.0	40.0
थाईलैण्ड	1962	2.8	2.9	3.1	4.1	5.1	6.8	8.2	9.3	14.7	43.0
मलाया	1957-58	2.6	3.9	6.1	5.1	7.2	8.5	10.3	12.4	16.1	27.8
श्रीलंका	1963	1.5	3.0	4.0	5.2	6.3	7.5	9.0	11.2	15.5	36.8
भारत (वर्तमान सर्वे)	1967-68	1.8	3.0	3.7	4.6	5.8	7.0	9.0	11.8	16.8	36.5

नोट : $द_1$ का अर्थ है निम्नतम 10 प्रतिशत गृहस्थियाँ व $द_{10}$ का अर्थ है सर्वोच्च 10 प्रतिशत गृहस्थियाँ।

*बेसिक स्टैटिस्टिक्स रिलेटिंग टू इंडियन इकोनॉमी, 1950-51 टू 1972-73, तालिका 10, सी० एस० ओ०, योजना मन्त्रालय, भारत सरकार।

स्रोत : "इन्कम इनइक्वेलिटी एण्ड इकॉनॉमिक ग्रोथ, द पोस्ट वार एक्सपीरियंस ऑफ़ एशियन कण्ट्रीज", द मलायन इकॉनॉमिक रिव्यू, भाग 15, सं० 2, अक्तूबर 1970, पृ० 7।

हो जो उस तरह आर्थिक प्रगति कर सके जिस तरह आज के विकसित देशों ने की थी। पश्चिमी देशों की परम्परागत विकास नीति जनसंख्या बहुल अर्थ-व्यवस्थाओं के उपयुक्त नहीं है—विकसित देशों में जिस नीति का अनुसरण किया गया उसका नतीजा यह हुआ कि खेती के विकास के साथ ही श्रमिक आधुनिक अथवा पूंजी-प्रधान उद्योगों में काम करने के लिए अपने आप शहर चले गये।

लेकिन पुराने व परम्परागत अर्थशास्त्रियों की राय मानकर नेहरू यह समझने लगे कि भारी पूंजी-प्रधान उद्योग से उत्पादन बढ़ता है जिससे राष्ट्रीय आय अथवा सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी० एन० पी०) में वृद्धि होती है और हम जी० एन० पी० बढ़ाने की ओर ध्यान दें तो ग़रीबी व बेरोजगारी की समस्या अपने आप हल हो जायगी। दलील यह थी कि आर्थिक संवृद्धि के लिए मूलभूत आवश्यकता पूंजी का उपलब्ध होना है। पूंजी-प्रधान उद्योग से आय का वितरण इस प्रकार होता है जिससे मुनाफ़े बढ़ जाते हैं अथवा थोड़े हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण बढ़ जाता है—हालांकि यह बात इन साफ़ शब्दों में कभी नहीं कही गयी लेकिन जो कुछ कहा गया उसका मतलब यही था कि धनी लोगों में बचत की प्रवृत्ति होती है इसलिए पूंजी-प्रधान उद्योगों से मुनाफ़े बढ़ने पर बचत भी बढ़ेगी। और बचत करने वाले अथवा उद्योगपति या तो इस बचत को नये बड़े अथवा पूंजी-प्रधान उद्यमों की स्थापना में लगायेंगे या उसे सरकार करों के रूप में उनसे जमा कर लेगी और स्वयं ही सार्वजनिक क्षेत्र में नये उद्योग चलाने के लिए लगायेगी। कहा जाता था कि इस प्रकार अर्थव्यवस्था में इतनी जान आ जायगी कि वह अपने ही आप आगे बढ़ने लगेगी और छोटे व मध्यम उद्योगों में भी जान फूंक देगी जिससे रोजगार के बहुत-से नये रास्ते खुल जायेंगे। इसीलिए नेहरू राष्ट्रीय आय बढ़ाना हमारी योजना का सबसे बड़ा उद्देश्य मानते थे और उनकी दृष्टि में रोजगार के नये अवसर आय-वृद्धि का उप-उत्पाद मात्र थे। चौथी योजना में यह बात साफ़-साफ कह दी गयी। उसमें लिखा गया कि भारत जैसे गरीब देश में पुनःवितरक नीतियों से कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं निकलेगा, क्योंकि अधिक धनी वर्ग की अधिक ऊँची आयों से जितनी भी बचत की जा सकेगी वह अर्थव्यवस्था में ही लगा दी जायगी ताकि भविष्य में अधिक उपभोग के लिए आधार बनाया जा सके। इसलिए ग़रीबों को व दुर्बलों को अर्थ-व्यवस्था की संवृद्धि को अधिकाधिक द्रुतगामी बनाकर तथा अन्य विशिष्ट नीति-कार्यों से सहायता पहुंचायी जा सकती है।

संवृद्धि को अधिकाधिक द्रुतगामी बनाने के लिए पूंजी को रियायतें प्रदान की गयीं और पूंजी-प्रधान लागत बढ़ाने के लिए प्रशासनिक नियन्त्रण का प्रयोग किया गया। रोजगार को सम्पूर्ण संवृद्धि का उप-उत्पाद बनाकर पीछे का दर्जा

दिया गया। रोज़गार का संकट हुआ तो अधिकतर नेहरू के सलाहकार अर्थ-शास्त्रियों की पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि उसी प्रकार से पूंजी और लगायी जाय जिससे रोज़गार के अधिक अवसर नहीं निकलते।

जब कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने कहा कि बड़ी फर्मों में या बड़े फ़ार्मों में छोटों की अपेक्षा कम श्रम का उपयोग होता है तो कहा गया कि छोटे उत्पादकों द्वारा पूंजी लगाने दिये जाने से संवृद्धि की गति धीमी हो जायगी। कहा गया कि श्रम-प्रधान संस्थानों की आय इतने लोगों में बंट जायगी कि दुबारा लगाने के लिए बचत करने लायक़ किसी की आय नहीं होगी। संवृद्धि की गति को धीमा करने के जो दूरगामी ख़राब नतीजे होंगे उनसे रोज़गार के तात्कालिक लाभ बेकार हो जायेंगे। लेकिन ससेक्स विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डडले सीयर्स, जिनको अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ ने कोलम्बिया की बेरोज़गारी की समस्या का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया था, इस नतीजे पर पहुंचे कि "सम्पूर्ण संवृद्धि को द्रुतगामी बनाकर बेरोज़गारी की समस्या हल करने की कोशिश के फलस्वरूप जैसे-जैसे लक्ष्य निकट आता दिखायी देता जायगा वह उतना ही दूर होता जायगा।"

वास्तव में, रोज़गार व उत्पादन में, रोज़गार में वृद्धि और आय में वृद्धि में कोई विरोध नहीं है। सामाजिक न्याय तथा विकास एक साथ सम्भव हैं। लेकिन मान लीजिये कि पूंजी-प्रधान उद्यमों की अपेक्षा, जिनकी नेहरू वकालत करते थे, श्रम-प्रधान उद्यमों में लागत-पूंजी की प्रति इकाई कम उत्पादन हो तो सवाल यह होता है कि क्या हमें, और कुछ नहीं, केवल यही ध्यान में रखना है कि पूंजी की उत्पादकता से प्रति व्यक्ति औसत आय बढ़े? यदि कोई वास्तविक द्विविधा है (द्विविधा का कोई कारण है नहीं) तो यही हो सकती है कि जो लोग बेरोज़गार होंगे उनकी हानि व शेष समुदाय की सम्भावित प्रगति के बीच सन्तुलन कैसे स्थापित किया जाय। हमारे देश में जहां जनसंख्या के 40 से 50 प्रतिशत तक लोग अपेक्षित न्यूनतम आय से. कम पर दशकों से गुज़ारा कर रहे हैं इन दोनों में से एक रास्ता चुनना मुश्किल नहीं है—हमें उन लोगों की आय व उपभोग को बढ़ाना है जो आय-वितरण के निम्नतम स्तर पर हैं, न कि उनकी आय व उनके उपभोग को जिन्हें आय-वितरण का बड़ा भाग मिलता है। निम्नतम के रोज़गार के लिए यह क़ीमत अदा करना मुनासिब होगा कि समाज के बाक़ी लोगों की आय में वृद्धि उनसे धीमी रफ़्तार से हो।

गांधीजी की सलाह के विपरीत हमारे नेता आधुनिक क्षेत्र के मोह में क्यों फंसे? इसके कारण मनोवैज्ञानिक व विचारधारा सम्बन्धी थे। तकनीकी उन्नति से विकसित देशों को प्राप्त होने वाले लाभ इतने अधिक थे, तकनीकी आधुनिकता का जादू इतना मोहक था कि वे चौंधिया गये और यह न देख सके कि एक

उप-उत्पाद के नाते प्रौद्योगिकी हमारी अर्थव्यवस्था में बेकारी बढ़ाकर व आय की असमानताओं को बढ़ाकर कितनी सामाजिक क़ीमत वसूल कर रही है।

नतीजा यह है कि स्वराज्य के कोई तीस वर्ष बाद भी एक ओर तो देश-भर के शहरों व गाँवों में दरिद्रता बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर इजारेदारी पैदा हो रही है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि सोच-समझकर चलायी गयी योजना का नतीजा है।

सत्तरह से अधिक वर्षों तक अर्थात् 2 सितम्बर 1946 को प्रधानमंत्री बनने के बाद से भारी उद्योग को तरजीह देने की नीति से जब देश को बहुत हानि हो चुकी तो जवाहरलाल नेहरू की समझ में आया कि महात्मा गांधी सही कहते थे। 11 दिसम्बर 1963 को संसद में योजना पर बोलते हुए नेहरू ने कहा :

> "मैं अधिकाधिक महात्मा गांधी के दृष्टिकोण के बारे में सोचने लगा हूँ।...मैं पूरी तरह से आधुनिक मशीन का प्रशंसक हूँ और बेहतरीन मशीन व बेहतरीन तकनीक चाहता हूँ। लेकिन हमारे देश में हालत यह है कि हम आधुनिक युग में चाहे जितना बढ़ जायें, उसका बहुत दिनों तक हमारे लोगों की बहुत बड़ी संख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उन्हें उत्पादन में भागीदार बनाने के लिए कोई और उपाय करना होगा, चाहे उत्पादन-यन्त्र आधुनिक तकनीक के मुकाबले में बहुत कुशल न हों।"

लेकिन तब तक देर हो चुकी थी। जब उन्होंने यह भाषण दिया वह बीमार थे और छह महीने भी नहीं बीते कि वह चल बसे।

लातीनी अमेरिका की सरकारों ने भी हमारे नेतृत्व की तरह बिना रोजगार बढ़ाये आर्थिक संवृद्धि के मार्ग पर चलने की ग़लती की और नतीजा भी वही निकला—सार्वजनिक असन्तोष। चिली व यूरागुये इसकी दो खास मिसालें हैं।

नई दिल्ली में फ़ोरम ऑफ़ फाइनेन्शियल राइटर्स द्वारा दिसम्बर 1972 की जनवरी में आयोजित एक विचार-गोष्ठी में भाषण देते हुए एक अमेरिकी विकास-अर्थशास्त्री एडगर ओवेन्स ने कहा कि "कई वर्षों से लातीनी अमेरिकी देशों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद 5 प्रतिशत या उससे भी अधिक गति से बढ़ रहा है और विनिर्माण का उत्पाद तो उससे भी कहीं अधिक दर से बढ़ रहा है। लेकिन विनिर्माण में लगा श्रमिक-बल कुछ घटा है, 1950 में 14.4 प्रतिशत था और 1969 में 13.8 प्रतिशत।" 1960 वाले दशक में श्रमिक-बल में लातिन अमेरिकी देशों में जितनी वृद्धि हुई उसका पाँच में से तीन भाग ही आर्थिक दृष्टि से लाभदायक कार्यों में लग सका जिसका मुख्य कारण यह था कि उद्योग में नये रोजगार की गुंजायश पैदा नहीं हुई। इसके विपरीत श्रम-प्रधान ताइवान व

दक्षिण कोरिया में 1960 वाले दशक में विनिर्माण में लगे श्रमिक बल का अनुपात दुगुना हो गया।

नीचे दी गयी तालिका में डॉ० के० एन० राज ने बड़े उद्योग को कुटीर व लघु-उद्योगों की अपेक्षा मिलने वाले लाभों को दिखाया है :

	दस्तकार वर्ग (परम्परागत)	लघु उद्योग (अर्ध-स्वचालित करघा)	बड़े पैमाने पर उत्पादन (पूरी तरह स्वचालित करघा)
प्रति करघा पूंजी	50 रु०	200 रु०	10,000 रु०
एक श्रमिक द्वारा चलाये जा सकने वाले करघों की संख्या	1	1	16
प्रति श्रमिक पूंजी-लागत	50 रु०	200 रु०	1,00,000 रु०
प्रति करघा प्रतिदिन उत्पादन	4 गज	20 गज	80 गज
प्रति करघा जोड़ा गया कुल मूल्य (25 पैसा प्रति गज और हर साल 300 कार्य-दिवस के आधार पर)	300 रु०	1,500 रु०	96,000 रु०
प्रति श्रमिक प्रति वर्ष जोड़ा गया कुल मूल्य	300 रु०	1,500 रु०	96,000 रु०
साधारणतः प्रति मजदूर का वार्षिक वेतन	1 रु० की दर से 300 रु०	3 रु० की दर से 900 रु०	5 रु० की दर से 1,500 रु०
प्रति श्रमिक प्रति वर्ष अतिरिक्त उत्पादन	कुछ नहीं	600 रु०	94,500 रु०

स्रोत : इकॅनॉमिक वीकली, बम्बई, 4 अप्रैल 1956, पृ० 436

पूंजी-प्रधान उद्यम में इतना अतिरिक्त-उत्पादन जमा हो जाता है कि चाहे जिस प्रकार का उतार-चढ़ाव आये, मण्डी में घटा-बढ़ी हो, शुल्क या कर-नीतियों में हेर-फेर हो, या इसी तरह का कुछ और हो, उद्यमी को मुनाफ़ा मिल ही जाता है, लेकिन दूसरे प्रकार के औद्योगिक उत्पादन में वह उतार-चढ़ाव अलाभकर सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि प्रति गज बढ़े हुए शुद्ध मूल्य को 25

पैसे से घटाकर 12 पैसे कर दिया जाय तो कुटीर अथवा परम्परागत उद्योग में कोई अतिरिक्त उत्पादन नहीं हो पायेगा बल्कि श्रमिक-मजदूरी आधी अथवा 50 पैसे रह जायगी। और, लघु उद्योग में अतिरिक्त उत्पादन जमा होना कम हो जायगा, वेतनों में 15 प्रतिशत कमी हो जायगी, उद्यम चलता रह सकता है और काम भी चलता रह सकता है लेकिन मुनाफ़ा कमाने की गुंजायश कम रह जायगी। इसके विपरीत बड़े उद्योग में फिर भी इतना उत्पादन होगा कि श्रमिकों को पूरा वेतन दिया जा सके और उस उद्यम की निवल आय कुछ-न-कुछ बढ़ जायगी। नतीजा यह होगा कि कारखाने के उत्पाद का बाजार में मुक़ाबला उसके सस्तेपन की वजह से न कर सकने के कारण छोटे उद्यम जिनमें कम पूंजी लगी हो और विशेष रूप से दस्तकारी वाले उद्यम या तो काम बन्द करने पर विवश कर दिये जाते हैं या पनप ही नहीं पाते। हाथ से बने माल की अपेक्षा कारखाने का बना माल सस्ता होना लाज़मी है क्योंकि उनका प्रक्रमण या विनिर्माण मशीनों से होता है। नतीजा यह है कि जैसे-जैसे अधिकाधिक पूंजी-प्रधान उद्योग लगते जाते हैं, अधिकाधिक लोग बेरोज़गार होते जाते हैं। इस-लिए हमारे देश में लम्बी-चौड़ी योजनाएँ, जिनमें ज़रूरत से अधिक बल भारी उद्योग पर दिया जाता हैं, पाँच वर्ष में जब पूरी होती हैं तो मालूम होता है कि पहले से अधिक बेरोज़गारी फैली हुई है।

यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शहरों की ओर जो बेरोज़गार लोग़ जाते हैं, उनमें वह लोग भी अधिक संख्या में होते हैं जो खेती में नहीं खपाये जा सकते हैं। जैसे-जैसे पारिवारिक जोतें छोटी होती जाती हैं वैसे-वैसे ही वह खेतिहर जो अंग्रेज़ी जमाने में शिकमी, बटाईदार, ग़ैरकानूनी क़ाबिज़ और जमींदारों की सीर अथवा खुदकाश्त के ग़ैर-मौरूसी पट्टेदार थे, या तो बेदखल कर दिये जाते हैं या उनके लिए बेदखली का खतरा पैदा हो जाता है। आज जो मशीनों से चलने वाले बड़े-बड़े फ़ार्म देश में चारों ओर दिखायी देते हैं, स्वतंत्रता मिलने से पहले उनका वजूद भी नहीं था। वे लाखों खेतिहरों को ज़बर्दस्ती या धोखे से बेदखल करके बने हैं, और जब तक ये फ़ार्म चलते रहेंगे लाखों खेतिहर मजदूर बेकार रहेंगे। यही खेतिहर मजदूर हैं जो कभी अपनी भूमि जोतते थे, जिनसे उनकी भूमि छिन गयी, जिनको पैतृक सम्पत्ति से अलग कर दिया गया, यही आज नक्सलवाद की ओर जा रहे हैं। जो कल तक शासक दल था, उसमें इनके लिए कोई आवाज़ उठाने वाला नहीं है। लेकिन अब यह खुद बोलेंगे, और ज़ोरों से बोलेंगे—जनता पार्टी के मंच से।

10

एक नीति-विकल्प

यदि देश को बचाना है तो नेहरूवादी नीति के स्थान पर गांधीवादी दृष्टि-कोण अपनाना होगा। हमें आज की स्थिति से निकलने के लिए गांधीजी के पास वापस जाना होगा। गांधीजी के विचार न केवल 1977 के भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं बल्कि 2000 के भारत के लिए भी। भारत ने 1947 में गांधी का मार्ग छोड़कर और एक ऐसी नीति अपनाकर बहुत बड़ी ग़लती की जो पश्चिमी है, केन्द्रीकरण पर आधारित है और जिसमें लाभ ऊपर से छनकर, टपक-टपककर, नीचे पहुँचने की कल्पना निहित है। आज भी वही नीति चल रही है। शायद भारत की समस्या का हल दोनों—गांधी व नेहरू की—नीतियों का उपयोगी समन्वय खोजकर हो सके। गांधी के विचारों में बड़े पैमाने के या मशीनों पर आधारित ऐसे उद्योग निषिद्ध नहीं जिनका परित्याग कोई भी आधुनिक समाज कर ही नहीं सकता। गांधीवादी नीति का उद्देश्य है बृहत स्तर पर, विकेन्द्रीकरण के आधार पर अधिकतम उत्पादन व संगठन करना और उसके लिए स्थानीय साधनों व योग्यताओं का प्रयोग करना।

आर्थिक क्षेत्र में हमारी असफलता के दो मुख्य कारण हैं : उद्योग व कृषि के बीच वित्तीय साधनों का ग़लत वितरण, और बड़ी मशीनों का अपनाया जाना व उनका उपयोग। ऐसी स्थिति में हमारे दो ही मुख्य काम हैं : वित्तीय साधनों के बँटवारे को कृषि के पक्ष में बदलना, और जहां तक हो सके बड़ी मशीनों का प्रयोग छोड़ देना। पहले काम का मतलब है ग्रामीण विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करना, और दूसरे का मतलब है अपने पास उपलब्ध कारकों पर आधारित अर्थव्यवस्था बनाना जो विदेशी पूंजी व विदेशी प्रौद्योगिकी को छोड़कर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़े।

एक प्रकार से भारत के योजना बनाने वालों का "मूल अपराध" कृषि की उपेक्षा है। कृषि की उपेक्षा का अर्थ था कृषि के अतिरिक्त उत्पाद की ओर ध्यान न देना अर्थात् खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पाद के बारे में सोचना बन्द कर देना। पर्याप्त खाद्यान्न का उत्पादन न हो सकने के कारण हमें अभी तक खाद्य पदार्थों के आयात पर 6,000 करोड़ रुपया खर्च करना पड़ा है और खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पादन में कमी की वजह से हम औद्योगिक व अन्य कृषीतर रोजगारों का विकास नहीं कर पाये हैं। 1951 में हमारे यहाँ कुल श्रमिकों में से 72 प्रतिशत खेती में लगे थे, 10 प्रतिशत उद्योग में और 18 प्रतिशत अर्थ-व्यवस्था की अन्य शाखाओं में। आज भी वही अनुपात चला आ रहा है। जहाँ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध है हमारा देश सबसे ग़रीब देशों में से एक है। और इससे भी अधिक चिन्ता की बात यह है कि आर्थिक संवृद्धि की दर भी हमारे यहाँ क़रीब-क़रीब सभी से कम है। दुनिया में हमें भिखारी देश कहा जाता है।

दूसरी ग़लती हमने यह की कि बहुत ऊँची उड़ान ली और राजनीतिक सत्ता पाते ही भारी उद्योग के मोह में फँस गये। गांधीजी चाहते थे कि देश का निर्माण नीचे से शुरू हो और अपने ही संसाधनों से किया जाय—उनकी परिकल्पना में गाँव, कृषि व दस्तकारी विकास की आधार-रेखा थे और शहर व ऐसे बड़े उद्योग जिनके बिना काम चल ही नहीं सकता हो उसकी सर्वोच्च शिखा। हम यह भूल गये कि भारत की अर्थव्यवस्था का विकास या उसकी विशाल जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर में उन्नति दो दायरों की सीमा के अन्दर ही सम्भव है—एक दायरा बनता है भारत को उपलब्ध उत्पादन-कारकों अथवा भूमि और प्राकृतिक साधनों की कमी व जनसंख्या के निम्न स्तर द्वारा लगी सीमाओं से, और दूसरा दायरा है भारत की राजनीतिक व्यवस्था का जिसमें जनवादी अधिकार एक सीमा के बाद श्रमिक-बल का शोषण-निषेध करते हैं।

इसलिए वर्तमान स्थिति को सुधारा जा सकता है संसाधनों को उच्च-मध्यवर्गीय क्रय-शक्ति पर आधारित महानगरीय, औद्योगीकृत, पूंजी-प्रधान व केन्द्रित उत्पादन से हटाकर ऐसे कृषि, रोजगार-प्रधान व विकेन्द्रित उत्पादन में लगाकर जो, गांधी के शब्दों में, "न केवल सर्वसाधारण के लिए किया जाता हो बल्कि उनके द्वारा किया जाता हो।"

अधिकतर देशों में कृषि व श्रम-प्रधान उद्योगों का विकास पहले हुआ—गांधीजी भी इसी तरह के विकास की वकालत करते थे—और इससे उन देशों को बहुत लाभ भी हुआ। इस मार्ग की सफलता का सबसे प्रमुख उदाहरण जापान है, और 1962 के बाद से कम्यूनिस्ट चीन भी इसे रास्ते पर चला जा रहा है (फ़र्क़ यह है कि चीन में कृषि का सामूहीकरण हो गया है)। यही एक

मात्र मार्ग है जिस पर चलकर वह देश, विशेष रूप से भारत, जहाँ श्रम का बाहुल्य है, अपनी बेरोजगारी व ग़रीबी की समस्या को हल कर सकते हैं और साथ में ऐसे भारी उद्योगों का निर्माण कर सकते हैं जो उनके यहाँ होने ही चाहिए।

"भारी उद्योग और विशेषरूप से भारी-मशीन-निर्माण उद्योग आर्थिक विकास का स्रोत व आधार[1] कभी नहीं रहे हैं। औद्योगीकरण के आरम्भिक दिनों में आर्थिक संवृद्धि का आधार थे कृषि, व्यापार व दस्तकारी। सोवियत संघ व जापान को छोड़कर हर बड़े औद्योगिक देश में भारी उद्योग उपभोक्ता-वस्तु-उद्योगों के आधार पर व इन उद्योगों की माँग के अनुसार ही बढ़े हैं। यह न केवल अमेरिका, इंग्लैण्ड व जर्मनी बल्कि फ्रांस, इटली, कनाडा आदि के बारे में भी सही है। रूस व जापान में इसके विपरीत ढंग से विकास हुआ तो उसकी वजह थी ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति जिसे अपवाद मानना चाहिए। रूस में पीटर महान के बाद और जापान में मीजी राजवंश की पुनःस्थापना के बाद, अधिकतर सरकार ने ही अपने राजनीतिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर औद्योगीकरण को प्रोत्साहन दिया और उसका नियंत्रण किया। दोनों देशों में सामारिक शक्ति के आधार रूप में, न कि अधिक औद्योगीकरण के लिए, भारी उद्योग को प्रोत्साहन दिया गया। दूसरे विश्व युद्ध से पहले रूस में सोवियत-संस्थाओं ने व जापान में सैनिक दल ने उसी नीति का बड़ी क्रूरता के साथ अनुसरण किया।"[2]

यदि और आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो आर्थिक प्रगति का एक मात्र "स्रोत व आधार" कृषि है, और कुछ नहीं। कोई देश उसी हद तक विकास करता जायगा जिस हद तक उसके यहाँ खाद्यान्न व कच्चा माल उपलब्ध होंगे। अगर किसान अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न नहीं पैदा करते तो उनके पास बेचने के लिए कुछ नहीं होगा, और वे बेचेंगे नहीं तो खरीदने के लिए उनके पास साधन नहीं होंगे। इसका मतलब है कि बिना कृषि उत्पादन में वृद्धि के न तो कोई व्यापार चल सकता है न दस्तकारी।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अगर किसी देश के अन्दर अतिरिक्त

---

1. 'स्रोत व आधार' शब्दों का प्रयोग जवाहरलाल नेहरू ने भारी उद्योग के संदर्भ में किया था।
2 'इंडिया : द अवेकनिंग जायंट', हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1959, पृ० 175।

खाद्यान्न व कच्चा माल उपलब्ध नहीं है या वह देश अपने विनिर्मित माल के बदले में उनका आयात सुनिश्चित नहीं कर सकता है तो उसके रहने वालों के जीवन-स्तर में कोई सुधार नहीं होगा, न उस देश का आर्थिक विकास होगा। इतना ही नहीं, जिस दर से व जिस मात्रा में कोई देश अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त कर सकता है, उसी पर उस देश के औद्योगीकरण की रफ़्तार, उसका दायरा व उसका ढंग मुनहसिर है। भारत जैसे देश के हालात में, जहां भूमि व मनुष्य का अनुपात बहुत कम है, जहां श्रम का अपेक्षाकृत बाहुल्य है व पूंजी की कमी है, अर्थात मशीनों की अपेक्षा आदमी सस्ते पड़ते हैं, उस देश की अर्थव्यवस्था में हाथ से चलने वाले उद्योगों, दस्तकारी व कुटीर उद्योगों की प्रधानता रहेगी। जब कृषि का उत्पादन बढ़ जाय जिससे खेती से आमदनी बढ़ जाय और विनिर्मित माल की मांग बढ़ जाय तो एक संचयी प्रक्रम आरम्भ होता है, अर्थात अधिकाधिक उद्योग लगने लगते हैं और औद्योगीकरण आय बढ़ने का परिणाम न रहकर उसका कारण बन जाता है।

क्योंकि मानवीय मांगों में बहुत विभिन्नता है, इसलिए एक के बाद दूसरे उद्योग बनने लगते हैं—यह उद्योग एक-दूसरे के पूरक होते हैं अर्थात एक-दूसरे के लिए बाज़ार बनाते हैं व इस प्रकार एक-दूसरे को सहारा देते है। अधिकतर उद्योग इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय बराबर बढ़ती रहती है।

धीरे-धीरे वह स्थिति आ जाती है जब (विभिन्न प्रकार के उद्योगों व सेवाओं के बन जाने से) श्रम की अपेक्षाकृत कमी हो जाती है और पूंजी का बाहुल्य हो जाता है, आदमी सस्ता पड़ने के बजाय मशीनें सस्ती पड़ने लगती हैं। उस मंज़िल पर पहुंचकर जहां भारत को पहुंचने में बहुत समय लगेगा, अर्थव्यवस्था में मशीनों से चलने वाले उद्योगों को प्रधानता मिलने लगती है। दस्तकारी से मशीन-प्रधान उद्योगों तक, श्रम-प्रधान तकनीकों तक प्रगति का दारोमदार इस पर है कि किस रफ़्तार से खेती से अतिरिक्त उत्पादन मिलता है या पूंजी मिलती है—खेती से जितने श्रमिक छुटकारा पायें, अर्थात जिनकी खेती में ज़रूरत न रहे, उनके अनुपात में पूंजी को देखना चाहिए। जिस प्रकार कुटीर व छोटे-स्तर के उद्योग मुख्यतः खाद्य पदार्थ व कच्चे माल के रूप में कृषि के अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर बढ़ते हैं, वैसे ही मशीनीकृत उद्योग कुटीर व छोटे-स्तर के उद्योगों के आधार पर उनकी मांग को पूरा करने के लिए व अपने को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाते हुए बढ़ेंगे। जहां सघन कृषि व्यवस्था हो, वहां भारी व बड़े उद्योगों के बनने में समय लगना चाहिए और उनको ऐसी अभिरचना का शिखर-बिन्दु होना चाहिए जिसकी आधार-रेखाएं हों कृषि, दस्तकारी व ग्रामीण उद्योग।

भारत में प्रगति का मापदण्ड यह नहीं है कि हम कितना इस्पात, या कितने टी० वी० सेट, या कितनी मोटरगाड़ियाँ बना सकते हैं, बल्कि यह है कि हम किस मात्रा में व किस तरह की जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं जैसे खाना, कपड़ा, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि को, उस आदमी तक पहुँचा सकते हैं जिसे गांधीजी 'आखिरी आदमी' कहते थे। भारत में या ऐसी ही स्थितियों वाले किसी भी देश में भारी उद्योग को प्राथमिकता देने का अर्थ है कृषि विकास को कुण्ठित करना, खाद्य पदार्थों की कमी करना व आयात की हुई भोजन सामग्री पर आश्रित रहना।

ऐसे बहुत-से विकासशील देश हैं जिनको भारत से अधिक प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी वहाँ रोजगारों का बाहुल्य है, गरीब लोग सम्पत्ति पैदा कर रहे हैं, कम बच्चे मरते है और साक्षरता बढ़ती जा रही है। इन देशों की राजनीति का स्वरूप जनतन्त्रीय है। उनमें से कुछ के नाम हैं तायवान, इस्राईल, प्योर्टे रिको व इजिप्ट। फिर भारत क्यों ग़रीबी व दरिद्रता के गर्त में पड़ा है और आगे नहीं बढ़ पाता? स्पष्ट है कि हमारी नीतियाँ ग़लत हैं और उनको बदलने की जरूरत है जिसका मतलब है कि हमें उन मिथ्या धारणाओं को छोड़ना पड़ेगा जो बहुत दिन से हमारे बीच फैलायी जा रही हैं।

इन मिथ्या धारणाओं में एक-दो का उल्लेख कर दिया जाय तो अच्छा होगा। बहुत लोग विश्वास करते है कि बड़े फ़ार्मों में अधिक पैदावार होती है और अधिक लोगों को काम मिलता हैं जबकि सही बात यह है कि छोटे फ़ार्मों में अधिक पैदावार होती है और अधिक लोग काम करते हैं। छोटे व कुटीर उद्योगों में शहरों में लगे बड़े कारखानों की अपेक्षा, जिनमें नवीनतम मशीनें लगी हों, लागत-पूंजी की प्रति इकाई अधिक उत्पादन होता है और अधिक आदमियों को काम मिलता है। भारत में खेती में भूमि और उद्योग में पूंजी ऐसे कारक हैं जो उत्पादन को सीमित करते हैं, इसलिए अर्थशास्त्र का नौसिखिया भी यह कहेगा कि उनका अधिकतम उपयोग किया जाय। सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि का कोई और जनतन्त्रीय उपाय नहीं है।

उद्योग के प्रति गांधीवादी दृष्टिकोण का औचित्य

भारत के लिए किस प्रकार की औद्योगिक व्यवस्था मुनासिब होगी, यह इस पर मुनहसिर करता है कि हम चाहते क्या हैं। यदि हमारा उद्देश्य केवल यही है कि प्रति श्रमिक अधिकतम उत्पादन हो, उत्पादन का प्रति व्यक्ति लगी पूंजी से सकारात्मक सम्बन्ध हो तो हमें ऐसी अर्थव्यवस्था चाहिए जिसमें पश्चिमी देशों के ढंग की पूंजी-रचना हो। और, पश्चिमी देशों में बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। लेकिन उत्पादन के बजाय यदि हम समूची जनता का कल्याण

चाहते हैं तो एक ऐसे देश में जहां पूंजी का अभाव हो और श्रम का बाहुल्य, हमें महात्मा गांधी द्वारा बताये गये ढंग की अर्थव्यवस्था से बचने के लिए कोई गुंजायश ही नहीं है। उनके ढंग की अर्थव्यवस्था में आज के हालात में न केवल सम्पत्ति का उत्पादन बढ़ेगा बल्कि हमारे अन्य उद्देश्य भी पूरे होंगे—अधिकतम रोजगार उपलब्ध हो सकेगा, राष्ट्रीय उत्पाद का समान-वितरण सम्भव हो सकेगा और जनतन्त्रीय जीवन को बढ़ावा मिलेगा।

सूती कपड़ा उद्योग में पूंजी व उत्पादन में पारस्परिक सम्बन्ध के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत के लिए कम-पूंजी वाली संरचना सबसे उपयुक्त है। स्वर्गीय डॉ० पी० एस० लोकनाथन के कथनानुसार, 1940 के बाद के दशक में भारत में मोटे तौर से उत्पादन के चार विभिन्न तरीकों से सूती कपड़ा बनाया जाता था। इन में पूंजी-तीव्रता (अर्थात प्रति श्रमिक लागत-पूंजी एक-एक सीढ़ी करके बढ़ती जाती थी) सम्बन्धित आंकड़े निम्न तालिका में दिये गये हैं :

भारत में सूती बुनाई उद्योग में पूंजी व उत्पाद

उत्पादन का तरीका	पूंजी की तीव्रता (प्रति श्रमिक लागत पूंजी)	उत्पाद (प्रति श्रमिक जुड़ा हुआ मूल्य)	पूंजी गुणांक (मूल्य अथवा पूंजी से अनुपात)	पूंजी की प्रति इकाई लगा श्रम
1	2	3	4	5
आधुनिक मिल अथवा ऐसी मिली-जुली मिल जिसमें कताई व बुनाई एक ही जगह होती थीं (बड़े पैमाने के उद्योग)	1,200	650	1.54	1
बिजली करघा अथवा छोटी मिल जिसमें केवल बुनाई होती थी (छोटा उद्योग)	300	200	0.66	3
स्वचालित करघा (कुटीर उद्योग)	90	80	0.90	15
हाथ करघा (कुटीर उद्योग)	35	45	1.29	25

स्रोत : ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट, 23 जुलाई 1943, पृ० 340।

टिप्पणी : पृष्ठ 101 पर तालिका भी देखिये।

तीन प्रकार के उद्योगों में, कुटीर, लघु-स्तर व बड़े स्तर के उद्योगों में श्रम, पूंजी व उत्पाद के सम्बन्ध को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है :

निवल उत्पाद अथवा प्रति श्रमिक जुड़ा मूल्य			निवल उत्पाद अथवा पूंजी की एक इकाई द्वारा जोड़ा मूल्य			पूंजी की प्रति इकाई के लिए लगे श्रमिक		
कुटीर	लघु	बड़ा	कुटीर	लघु	बड़ा	कुटीर	लघु	बड़ा
45	200	650	1.0	0.60	0.54	25	3	1
450	2,250	48,000	9.0	1.5	0.6			
300	1,500	96,000	6.0	7.5	0.6	3,200	4	1

इन आंकड़ों से मालूम होता है कि जहाँ तक प्रति श्रमिक निवल उत्पाद (अर्थात जोड़े गये मूल्य) का प्रश्न है, उसका उद्यम के आकार व तकनीक से एक सकारात्मक सम्बन्ध है— अर्थात प्रति श्रमिक उत्पाद उतना ही बढ़ता है जितना आकार, पूंजी-तीव्रता (या प्रति श्रमिक लगी पूंजी) तथा/अथवा प्रौद्योगिकी में सुधार होता है। कुटीर उद्योग में प्रति श्रमिक उत्पाद लघु उद्योग से कम होता है और लघु उद्योग में बड़े अथवा पूंजी-प्रधान उद्योग की अपेक्षा कम होता है। लेकिन निश्चित पूंजी की प्रति इकाई का जोड़े गये मूल्य तथा लगाये गये श्रम के साथ विपरीत सम्बन्ध है। अर्थात जैसे-जैसे किसी उद्योग में पूंजी-तीव्रता या प्रति श्रमिक लगी पूंजी बढ़ती है और प्रौद्योगिकी में सुधार होता है वैसे-वैसे ही उत्पादन कम होता जाता है और काम में लगे श्रमिकों की संख्या कम होती जाती है।

एक प्रकार से योजना आयोग के स्टैटिस्टिकल सलाहकार प्रो० महालनोबीस को हमारे भारी उद्योग कार्यक्रम का निर्माता कहा जा सकता है। उन्होंने लेख[1] में निम्नलिखित आंकड़े दिये हैं जो बहुत महत्वपूर्ण हैं :

धन्धा जिसमें पूंजी लगी	कितने अतिरिक्त संसाधनों का उत्पादन करती है	कितने व्यक्तियों को रोज़गार देती है
भारी उद्योग	14 लाख रु०	500
उपभोक्ता-माल उद्योग	33 लाख रु०	1,500
कृषि	57 से 69 लाख रु०	4,000

1. 'जर्नल आॅफ इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट', दिसम्बर 1965।

भारत सरकार के उद्योग विभाग के खादी व ग्रामोद्योग उप-विभाग के काम के सिलसिले में अगस्त 1974 में भारत सरकार ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उसके अनुसार चौथी योजना की अवधि 1969-74 में बड़े उद्योगों की अपेक्षा खादी व ग्रामोद्योगों में एक श्रमिक को रोज़गार देने के लिए बहुत कम पूंजी लगाने की ज़रूरत थी—खादी व ग्रामोद्योगों में औसतन 530 रु० की पूंजी लगाने की ज़रूरत थी, सूती कपड़ा उद्योग में 10,000 रु० और सीमेण्ट या इस्पात उद्योग में 5 से 10 लाख रु०। और 1974-75 के उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के अनुसार बड़े उद्योगों के क्षेत्र में कुल मिलाकर एक श्रमिक को रोज़गार देने के लिए 29,600 रु० की पूंजी लगाने की आवश्यकता थी।

निम्न तालिका में दोनों क्षेत्रों के अर्थात बड़े स्तरीय व छोटे स्तरीय, ऐसे कारखानों की जिनकी गणना की जाती है, कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं के बारे में तुलनात्मक आंकड़े दिये जा रहे हैं—छोटा-स्तरीय कारखाना वह माना गया है जिसमें मशीनें व प्लांट के लिए कुल मिलाकर 7.5 लाख की लागत लगी हो :

संरचनात्मक सम्बन्ध (आकार के अनुसार)—1970

मद	बड़ा	छोटा
1	2	3
प्रति फैक्टरी उत्पादक-पूंजी (लाख रु० में)	203.13	1.89
प्रति एक लाख रु० रोजगार (संख्या)	3.8	19.0
प्रति फ़ैक्टरी रोज़गार (संख्या)	777	36
प्रति फ़ैक्टरी सकल उत्पाद (लाख रु० में)	169.94	5.73
जोड़ा गया मूल्य	42.68	0.96
प्रति श्रमिक उत्पादक-पूंजी (लाख रु० में)	26,130.00	5,240.00
प्रति श्रमिक सकल उत्पाद (रु० में)	21,861.00	15,917.00
प्रति श्रमिक जोड़ा गया मूल्य (रु० में)	5,490.00	2,665.00
जोड़ा गया मूल्य—सकल उत्पाद के मूल्य का प्रतिशत	25.1	16.7
उत्पादक-पूंजी व जोड़े गये मूल्य का अनुपात	4.76	1.97
उत्पादक-पूंजी व सकल उत्पाद के मूल्य का अनुपात	1.20	0.33

नीचे की तालिका में 1961 में ताइवान में विभिन्न ग्राकार की फ़ैक्टरियों में पूंजी-लागत व श्रम का भाग दिखाया गया है। 2,500 डालर से कम लागत की इकाइयों में पूंजी व उत्पाद का ग्रनुपात उसका ग्राधा है जो 250,000 डालर से 2,500,000 तक लागत की इकाइयों में होता है। ग्रत:, 2,500 डालर से कम लागत की इकाइयों में श्रमिक की ग्राय का भाग 250,000 डालर से 2,500,000 डालर तक लागत वाली इकाइयों का दूना है।

फ़ैक्टरी के ग्राकार के ग्राधार पर उत्पादन बढ़ाने की पूंजी-लागत तथा श्रमिक की ग्राय का भाग, ताइवान, 1961

उद्योग का ग्राकार—लागत-पूंजी के ग्रनुसार	1.00 डालर का उत्पादन बढ़ाने के लिए लागत-पूंजी	प्रति 1.00 डालर ग्राय में श्रम का भाग
2,500 डालर से कम	1.97 डालर	74 सेंट
2,500 डालर से 25,000 डालर तक	2.52 डालर	72 सेंट
25,000 डालर से 250,000 डालर तक	3.26 डालर	50 सेंट
250,000 डालर से 2,500,000 डालर तक	3.66 डालर	39 सेंट
2,500,000 डालर से ग्रधिक	4.46 डालर	31 सेंट

स्रोत : एडगर ग्रोवेन्स व रार्बट शॉ : **डिवैलपमेंट रीकन्सिडर्ड**, लैन्गटन बुक्स, मैसाचूसेट्स, 1972।

यह स्पष्ट है कि जहाँ तक लागत पूंजी के प्रति इकाई उत्पाद का सम्बन्ध है, विनिर्माण उद्योग में कुल मिलाकर बड़े ग्राकार में किफ़ायत होने का सिद्धान्त लागू नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वास्तविक जीवन में ऐसा कोई सिद्धान्त या नियम नहीं है कि एक उद्योगपति के हाथों में पूंजी का केन्द्रीकरण होने से उत्पाद-पूंजी ग्रनुपात भी बढ़ जाता हो, ग्रौर न इस तरह के विचार के लिए विज्ञान में कोई गुंजायश है। मशीनीकरण व स्वचालन शुरू किये गये थे श्रम की उत्पादकता बढ़ाने के लिए ग्रर्थात् उत्पाद-श्रमिक ग्रनुपात बढ़ाने के लिए। मशीनीकरण व स्वचालन का उत्पाद-पूंजी ग्रनुपात पर सकारात्मक प्रभाव भी पड़ सकता है ग्रौर विपरीत प्रभाव भी। प्रौद्योगिकी के विकास से ग्रतिरिक्त पूंजी लगाकर श्रम-प्रधान उद्यमों को तो समाप्त किया जाता है लेकिन उससे उत्पादन नहीं बढ़ता।

हम पाठ्य पुस्तकों में बड़े आकार में किफ़ायत होने के सिद्धान्त के जो उदाहरण पढ़ते हैं, वे मुख्य रूप से बहुत अधिक औद्योगीकृत देशों के अनुभव पर आधारित होते हैं। भारत में इस सिद्धान्त का, जिसका अर्थ है कि जितना बड़ा प्लांट होगा उतनी ही कम प्रति इकाई लागत होगी, कोई उदाहरण मिल सकता है तो इस्पात जैसे पूंजीगत माल पैदा करने वाले उद्योगों में ही। उपभोक्ता उद्योंगों में तो इस सिद्धान्त का कोई नाम-निशान नहीं मिलता।

यद्यपि आधुनिक मिलें व फ़ैक्टरियाँ बनाने के अर्थ में भारत में औद्योगीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही शुरू हो गया था, लेकिन 1948-49 में भारत के कुल उत्पादन में से केवल 6.4 प्रतिशत ही उत्पाद हुआ 'फ़ैक्टरी संस्थानों' में, (अर्थात् छोटी-बड़ी फ़ैक्टरियों में जो 1948-49 के फ़ैक्टरी क़ानून के अन्तर्गत आती थीं) और 10 प्रतिशत हुआ उन छोटे उद्यमों में जो फ़ैक्टरी नहीं माने जाते थे। 20 वर्ष तक बड़े-स्तरीय उद्योग में अनुपातहीन ढंग से अन्धाधुन्ध पूँजी लगाने के बाद भी 1968-69 में उसका उत्पादन बढ़कर केवल कुल उत्पाद का 10.7 प्रतिशत हो सका लेकिन छोटे उद्यमों का भाग जो फ़ैक्टरी एक्ट में नहीं गिने जाते, घटकर 7 प्रतिशत रह गया। (इन दोनों प्रकार के उद्यमों में कितनी-कितनी आय हुई, इसके आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।) कुल मिलाकर सकल राष्ट्रीय आय में विनिर्माण उद्योगों का अंशदान 1948-49 में 16.7 प्रतिशत से बढ़कर 1968-69 में केवल 17.7 प्रतिशत हो पाया। यद्यपि इसकी बड़ी धूमधाम है कि औद्योगीकरण की वजह से अब दुनिया के औद्योगीकृत देशों में भारत को आठवाँ या नवाँ स्थान मिल गया है, लेकिन भारत के रहन-सहन का स्तर एशिया में लगभग सबसे कम है और 35 करोड़ व्यक्ति हमारे देश में भुखमरी की सीमा-रेखा पर खड़े रहते हैं।

जो लोग भारी या बड़े-स्तरीय आधुनिक उद्योग के मोहजाल में फँसे हैं, उनको विशेष रूप से इस सवाल पर ग़ौर करना चाहिए कि हमारी नीतियों के फलस्वरूप कुटीर धन्धे तो खत्म हो रहे हैं लेकिन 1973 में छोटी-बड़ी मिलाकर सभी फ़ैक्टरियों में केवल 55 लाख लोगों को रोजगार मिला हुआ था जबकि हर वर्ष हमारे देश में रोजगार तलाश करने वालों अर्थात् श्रमिक-बल की संख्या 50 लाख बढ़ जाती है। गाँवों में बेरोजगारी के विभिन्न अनुमान हैं—किसी के अनुसार गाँवों में 90 लाख बेरोजगार हैं, तो किसी के अनुसार 260 लाख। इस सम्बन्ध में कृषि आयोग का यह कथन विचारणीय है कि कृषि से कृषीतर क्षेत्र में श्रमिकों का हस्तान्तरण बहुत धीमी रफ़्तार से ही होगा। बहुत हुआ तो इस शताब्दी के अन्त तक कृषीतर क्षेत्र कुल श्रमिक-बल अर्थात् कुल रोजगार लायक़ व्यक्तियों के 30 प्रतिशत को ही रोजगार दे पायेगा।

जो लोग यह विश्वास करते हैं कि उद्योग से हमारे बेरोजगारों व अल्प-

रोजगार वालों की समस्या हल हो जायगी, उनके विचारों की अवास्तविकता इसीसे स्पष्ट हो जायगी कि प्रौद्योगिकी के निरन्तर विकास के कारण उतना ही माल बनाने के लिए आवश्यक मजदूरों की संख्या में भी निरन्तर कमी होती जा रही है। उदाहरण के लिए, 1961 में हमारे यहाँ की 445 सूती कपड़ा मिलों में कपास की 36,87,000 गाँठों की खपत होती थी और 7,22,000 मजदूरों को काम मिला हुआ था। 1971 में सूती कपड़ा मिलों की संख्या तो बढ़कर 684 हो गयी, कपास की खपत भी बढ़कर 62,51,000 गाँठें हो गयी लेकिन मज़दूरों की संख्या बढ़कर केवल 7,61,000 हो पायी। सूती कपड़ा उद्योग ने अपने मुनाफ़ों को आधुनिक मशीनें लगाने के लिए इस्तेमाल किया है, और इन मशीनों ने मजदूरों का स्थान ले लिया है। ऐसी प्रवृत्तियाँ सीमेंट, कोयला तथा खदान जैसे उद्योगों में भी नजर आती हैं।

आगे क्या होने वाला है, यह इस मिसाल से जाहिर होगा कि गुजरात के मेहसाना ज़िले में 70 करोड़ रुपये की लागत से एक उर्वरक फ़ैक्टरी बनी है जिसमें केवल 350 व्यक्तियों को काम मिला है। और, एक प्रेस-विज्ञप्ति के अनुसार गुजरात के ही भड़ौच जिले में 250 करोड़ रुपये की लागत से एक उर्वरक फ़ैक्टरी बन रही है जहाँ 1979 के मध्य में काम शुरू होने पर कुल 1,100 लोगों को काम मिलेगा।[1]

औद्योगिक प्रौद्योगिकी की प्रगति के साथ-साथ मानवीय श्रम की उत्पादकता जरूर बढ़ती है परन्तु एक मजदूर को काम देने के लिए पहले से कहीं अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि मजदूर की उत्पादकता इसलिए बढ़ती है कि बहुत अधिक पूँजी लगायी जाती है। इसलिए ऐसी व्यवस्था में जहाँ पूँजी की कमी हो, उन्नत औद्योगिक प्रौद्योगिकी को अस्वीकार करने से कम आदमियों को रोजगार मिलेगा। जिनको रोजगार मिलेगा उनकी आय तो पहले से अधिक हो जायगी लेकिन उनकी आय में यह वृद्धि दूसरों की आय खत्म करके होगी। हमारे यहाँ जो स्थिति है कि पूँजी का अभाव है और श्रम न केवल बहुत है बल्कि फ़ालतू है उसे देखते हुए राष्ट्रीय हित में यह नहीं होगा कि सबसे नयी व बहुत अधिक स्वचालित तथा क़ीमती मशीनों का प्रयोग किया जाय जिनको पूँजी तो अधिक चाहिए लेकिन श्रम कम। हमारे देश में साफ़ जाहिर है कि श्रम-प्रधान प्रौद्योगिकी की जरूरत है—ऐसी प्रौद्योगिकी की जिसके लिए एक मजदूर को रखने में कम पूँजी चाहिए। ऐसी प्रौद्योगिकी के प्रयोग से उतनी ही पूँजी में मजदूरों की कहीं अधिक संख्या को काम दिया जा सकेगा। कहने का मतलब यह कि भारत में पूँजी ऐसा कारक है जो उत्पादन

---

1. 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', नई दिल्ली, 3 दिसम्बर 1975।

को सीमित करता है, इसलिए हमारा आर्थिक संगठन ऐसा होना चाहिए जिसमें आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों की अपेक्षा जहां श्रम का अभाव है, उत्पाद व पूंजी का अनुपात अधिक हो, न कि उत्पाद व श्रम का अनुपात।

पूंजी-प्रधान उद्यम उन लोगों के लिए हितकर हो सकते हैं जो उनमें काम करते हैं क्योंकि उनको दूसरों से अधिक वेतन मिलेगा। लेकिन सारे देश की दृष्टि से श्रम-प्रधान उद्यम ही अधिक हितकर हैं, विशेष रूप से ऐसे देश में जहां पूंजी का अभाव है (ऐसे उद्यमों को कम पूंजी चाहिए), ग़रीबी अत्यधिक है (ऐसे उद्यम लागत की फ़ी इकाई अधिक उत्पादन करते हैं), और श्रम का बाहुल्य है (ऐसे उद्यमों में अधिक लोगों को रोज़गार मिलता है)। पश्चिमी देशों में सरकारों व अर्थशास्त्रियों के सामने श्रम की उत्पादकता बढ़ाने का सवाल है, लेकिन हमें तो एक राष्ट्र के नाते पूंजी की उत्पादकता बढ़ाने की चिन्ता होनी चाहिए क्योंकि हमारे पास पूंजी की कमी है, उन्नत देशों की तरह श्रम की कमी नहीं है। हमारे सामने दो रास्ते हैं—एक है पूंजी-प्रधान रास्ता जिस पर चलकर कुछ लोगों की आय अधिक हो सकती है, और दूसरा रास्ता है श्रम-प्रधान जिस पर चलकर सभी को मामूली-सी आय होगी लेकिन वह आय बढ़ती जायगी। इसमें से हमें दूसरा रास्ता चुनना है जो जापान ने भी चुना था।

1947 से जिन नीतियों का सरकार ने अनुसरण किया उनके फलस्वरूप इजारेदारियों ने जन्म ले लिया है और असमानताएं बढ़ गयी हैं। एक विशिष्ट विचारधारा ने आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर दिया है और मज़ा तो यह कि उससे लाभ उन शक्तियों को ही हुआ जिनका वह विचारधारा दिखावे के लिए विरोध कर रही थी। हमारे यहां जान-बूझकर असमानता बढ़ायी गयी क्योंकि आशा यह थी कि बड़ी या पूंजी-प्रधान इकाइयों से उपलब्ध अतिरिक्त आय को अर्थव्यवस्था में फिर से लगाने के लिए जमा कर सकना आसान होगा और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति पैदा हो जायगी कि उन लोगों को भी, जिनका ऐसे उद्योगों की वजह से रोजगार छिन गया या जिनको इन धन्धों में रोज़गार न मिल सके, काम में खपाया जा सकेगा। यह आशा पूरी नहीं हुई और जैसा कि प्रो० डडले सीयर्स ने बताया है, कभी पूरी नहीं हो पायेगी। ख़ासतौर से भारत के लिए तो कोई वजह नहीं थी कि अपनी अर्थव्यवस्था में यह दोष आने देता क्योंकि उसे तो लम्बे अर्से तक गांधी की शिक्षा का मार्ग-दर्शन उपलब्ध था जो और देशों के सामने नहीं था। संवृद्धि तथा वितरण, सकल राष्ट्रीय आय व सामाजिक न्याय—यह परस्पर विरोधी नहीं थे। दोनों साथ-साथ सम्भव थे।

बहुत दिन पहले 1939 में राजकुमारी अमृत कौर को एक पत्र में गांधीजी ने लिखा था कि "जवाहरलाल की योजनाओं में फ़िज़ूलखर्ची ज़रूर होगी लेकिन

वह तो किसी ऐसी चीज से सन्तुष्ट नहीं होंगे जो बड़ी न हो।" नेहरू ने अपनी ग़लती को समझा, लेकिन बहुत देर में। 11 दिसम्बर 1963 को लोकसभा में उन्होंने स्वीकार किया कि "योजना से कुछ लोगों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए।"

बेरोजगारी उन्मूलन के उपाय

बेरोजगारी भारत की सबसे बड़ी शत्रु है। या तो उसका उन्मूलन किया जाना चाहिए, या फिर सभ्य राष्ट्रों के समाज से वह हमारा उन्मूलन कर देगी। बेरोजगारी की समस्या का हल ही ग़रीबी और आय की व्यापक असमानताओं की समस्याओं के समाधान की कुंजी है। जब श्रमिक को रोजगार का आश्वासन मिल जाय अर्थात् यह व्यवस्था हो जाय कि उसे कुछ-न-कुछ अवश्य मिल जायगा, तो ग़रीबी तथा आय की असमानता भी कम होने लगेगी। इसलिए बेरोजगारी की चुनौती को टाला नहीं जा सकता। किसी सेना के मनोबल का मापदण्ड यह है कि वह अपने घायल सैनिकों की देखभाल कैसे करती है और उन्हें मैदान में पड़ा न छोड़ने के लिए कितने ख़तरे उठाती है। उसी प्रकार किसी अर्थनीति या राजनीति की गुणवत्ता का मापदण्ड यह है कि वह अपने पीड़ित, दुर्बल, बेरोजगार, मूक नागरिकों का उद्धार कैसे करती है और उन सभी लोगों को, जो असहाय हैं और जिन्हें दूसरे दिन की रोटी का सहारा नहीं है, कैसे राहत पहुँचाती है। उनमें अधिकतर न वोट देते हैं, न यह जानते हैं कि राजनीतिक सिद्धान्तों का क्या मतलब है। उनको इतने दिनों से और इतनी प्रकार से धोखे दिये जाते रहे हैं कि वे अब यह भी विश्वास नहीं करते कि कोई प्रगति सम्भव है। भारत में राजनीतिक नेतृत्व की परख अब उसके क्रान्तिकारी नारों से नहीं होगी बल्कि इन बेचारों के लिए किये गये काम से होगी।

दुर्भाग्य है कि अभी तक राजनीतिक क्षेत्रों में यह पूरी चेतना नहीं है कि हमारा उद्धार तभी सम्भव होगा जब हम उन दोषपूर्ण नीतियों में जिनकी वजह से आज की स्थिति उत्पन्न हुई है, आमूल परिवर्तन करेंगे। हम चाहे जितनी सरकारी नौकरियाँ बढ़ा दें, गाँवों में निर्माण कार्य आरम्भ कर दें, गन्दी बस्तियों की सफ़ाई में लोगों को लगा दें, लेकिन इनमें से कोई भी काम बेरोजगारी के रोग का, जो हमारे राष्ट्र को अन्दर से खोखला कर रहा है, न टिकाऊ है, न पूरा इलाज है। कोई भी नीति हो, उसका उद्देश्य यह तो नहीं हो सकता कि चाहे जैसा कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जाय, या चाहे जैसा काम लोगों को दिला दिया जाय। किसी भी नीति का उद्देश्य यह होना चाहिए कि लोगों को ऐसा काम मिले जो आर्थिक दृष्टि से उत्पादक हो और उससे रहन-सहन के माकूल स्तर के लायक़ आमदनी हो। काम का अर्थ मुख्य रूप से यह होना चाहिए कि

लोगों के लिए अधिक सामान व सेवाओं का उत्पादन हो। यह उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि जिन लोगों की जरूरत नहीं है या जिनको कुछ भी नहीं आता सिर्फ़ उन्हें मजदूरी मिल जाय—यह किया गया तो उससे मुद्रास्फीति बढ़ेगी।

हमारे सामने एक विडम्बनापूर्ण स्थिति है। एक तरफ़ तो दसियों लाख लोग बेरोजगार घूम रहे हैं। दूसरी ओर हमारे यहां माल व सेवाओं का अभाव है (क्योंकि लोगों से काम नहीं लिया जाता)। हमारे यहां पूंजी व भूमि सीमित हैं और श्रमिक-दल असीम मालूम होता है। यदि अधिकतम दर पर भी पूंजी लगायी जाय तो भी आने वाले बहुत दिनों तक श्रम की अपेक्षा उसकी कमी रहेगी। ऐसी स्थिति में जहां भी हो सके पूंजी के स्थान पर श्रम से काम लिया जाय और किसी भी हालत में किसी ऐसी पूंजी-प्रधान परियोजना को हाथ में न लिया जाय जिसका कोई श्रम-प्रधान विकल्प सम्भव हो।

ऐसी स्थिति का सामना केवल भारत को ही नहीं करना पड़ रहा है। अधिकतर विकासोन्मुख देश जिन्होंने आर्थिक संवृद्धि का पश्चिमी ढंग अपनाया था लेकिन जिनकी अर्थव्यवस्था सघन कृषि पर निर्भर है, आज अपने को भारत जैसी ही स्थिति में पाते हैं। फिर भी उनमें से तीन-चार को छोड़कर जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कोई भी अपनी नीति बदलने के लिए तैयार नहीं है। (गांवों व शहरों में) असंख्य कृषीतर रोजगार के साधन बनाने व बढ़ाने के लिए कृषि का उत्पादन बढ़ाना (और लोगों की दिमाग़ी आदतों को बदलना) जरूरी है। फिर भी यदि कृषि को उचित प्राथमिकता दी जाय व उसमें आवश्यक पूंजी लगायी जाय तो कुछ समय के लिए उसमें विनिर्माण उद्योग से अधिक रोजगार मिल सकता है। तीन मुख्य पर सम्बन्धित क्षेत्र हैं जिनमें बड़े स्तर पर रोजगार के लिए अवसर पैदा किये जा सकते हैं:

(1) कृषि जिसमें पशुपालन, देसी खाद बनाना, सफ़ाई तथा गोबर गैस शामिल है;

(2) गांवों में निर्माण कार्य, जैसे सिंचाई परियोजनाएं, भूमि संरक्षण, भूमि उद्धार, जंगल लगाना, आदि;

(3) ग्रामीण व कुटीर उद्योग।

सिंचाई का विस्तार करने से, जंगल लगाने, भूमि का उद्धार करने तथा ऐसे ही ग्रामीण निर्माण कार्य आरम्भ करने से कृषि व वन-विभाग में नये रोजगार के अवसर पैदा होंगे। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की नयी व्यवस्था की गयी है वहां अनुमान लगाया गया है कि कृषि में रोजगार के 60 प्रतिशत नये अवसर खुल जाते हैं।

इण्डियन कौंसिल ग्रॉफ़ एग्रीकलचरल रिसर्च के भूतपूर्व डायरेक्टर एम० एस० स्वामीनाथन ने कहा है कि यदि हम कृषि की ग्रोर उचित ध्यान दें तो ग्रागामी दशक में उसमें चार करोड़ नये लोगों को काम दे सकने की क्षमता है। इण्डियन एग्रीकलचरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के ग्रनुसार, वहाँ एक से ग्रधिक फ़सल पैदा करने की परियोजना बनायी जा रही हैं जिससे उत्पादन में तिगुनी वृद्धि होगी ग्रौर एक करोड़ सत्तर लाख गाँव वालों को ग्रागामी तीन वर्ष में काम मिल जायगा। हमारे देश में 700 लाख हैक्टर भूमि पर साल में एक ही फ़सल पैदा होती है ग्रौर इसमें से 370 लाख हैक्टर भूमि इस परियोजना के ग्रन्तर्गत ग्रा सकती है। इसकी कुल लागत 100 करोड़ रुपया होगी। इन्स्टीट्यूट ने यह ग्रनुमान लगाया है कि लागत-पूँजी की इकाई में कृषि में उद्योग की ग्रपेक्षा दसगुना लोगों को रोजगार मिल सकता है।

एफ़० ए० ग्रो० (ग्रन्तर्राष्ट्रीय भोजन एवं कृषि संगठन) द्वारा 1970 में प्रकाशित 'प्रोडक्शन ईयरबुक' के ग्रनुसार 1971 में कृषि में पिछड़े देशों में 100 एकड़ भूमि पर 39 व्यक्ति काम करते थे जबकि कृषि की दृष्टि से उन्नत देशों में बहुत ज्यादा, जैसे जापान में 87, दक्षिणी कोरिया में 79, ताईवान में भी 79 ग्रौर मिश्र में 71। यह चार देश दुनिया में छोटे खेतों पर ग्राधारित श्रम-प्रधान कृषि के लिए नमूना हैं। इन चार देशों में ग्रन्य विकासशील देशों की ग्रपेक्षा प्रति एकड़ सबसे ग्रधिक पैदावार, छोटे काश्तकारों को सबसे ग्रधिक ग्रामदनी ग्रौर कृषि विकास के लिए प्रति एकड़ सबसे कम पूंजी-लागत होती है। यदि हम गहन खेती (इन्टेन्सिव कल्टीवेशन) की सफलता के उपयुक्त परि-स्थितियां पैदा कर दें तो हम न केवल ग्रधिक लोगों को रोज़गार दे सकेंगे बल्कि प्रति एकड़ पैदावार भी ग्रधिक कर सकेंगे।

यदि हम वर्तमान तकनीकों में प्रौद्योगिकियों में (मशीनीकरण को छोड़कर, ग्रन्य) सुधार कर सकें तो ग्रनुभव बताता है कि श्रम की मांग बढ़ जायगी। उदाहरण के लिए, हाल में प्रौद्योगिकी में हुए सुधारों के लिए जिनको सामूहिक रूप से 'हरित क्रान्ति' कहा जाता है, भूमि तैयार करने, बुवाई, छँटाई, बढ़ती फ़सल की देखभाल करने तथा कटाई के लिए ज्यादा ग्रादमियों की ज़रूरत होती है। कुछ सुधार तो ऐसे हैं जिनमें खेती से पहले ही ग्रधिक श्रम-लागत की ग्रावश्यकता होगी जैसे सिंचाई की नालियां ग्रादि बनाने व उनको ग्रच्छी हालत में रखने के लिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि गांवों में फैले हुए ग्रल्परोज़गार के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार कृषि की ऐसी तकनीकें हैं जो पुरानी हो गयी हैं ग्रौर जिनमें कोई सुधार नहीं किया गया है।

हमें यह ग्रच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि यदि हम रोज़गार की समस्या को दिल से हल करना चाहते हैं तो कम-से-कम उन क्षेत्रों में जहाँ

खेतिहर मजदूरों की अधिकता है खेती में बड़ी मशीनों के प्रयोग के लिए किसी प्रकार का प्रशासनिक अथवा वित्तीय प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए—न तो इन मशीनों को खरीदने के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए, न सरल व सुगम ऋण की सुविधा और न किराये/किस्तों पर खरीदने की सुविधा दी जानी चाहिए, न इन मशीनों की क़ीमतों पर नियंत्रण करके उनकी अधिक बिक्री कराना और न कृषि विस्तार सेवाओं द्वारा उनका प्रचार कराना चाहिए—ये मशीनें श्रमिकों को हटाकर उनका काम खुद करती हैं। मशीनीकरण से जोतदार को प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने में (जो भारत में हमारा उद्देश्य होना चाहिए) सहायता नहीं मिलती बल्कि अधिक बड़ी जोत पर नियंत्रण रखने में मदद मिलती है। इसलिए हमारी नीति का मुख्य आधार यह नियम होना चाहिए कि हम आधुनिक प्रौद्योगिकी के उन तत्वों पर बल दें जो श्रमिक का स्थान नहीं लेते—जैसे उन्नत बीज, आधुनिक उर्वरक व कीटाणु-नाशक दवाएँ—तथा पूँजी-निर्माण के उन स्वरूपों को प्रोत्साहन दें जिनमें श्रमिक-बल का अधिक प्रयोग होता है—जैसे भूमि को साफ़ करना व हमवार बनाना, सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार करना, नालियाँ बनाना और बचाव के लिए बाड़ा आदि बनाना। यदि कृषि का मशीनीकरण करना ही है तो ऐसी मशीनों का प्रयोग करना चाहिए जो—जैसा कि गांधीजी ने कहा था—मानव श्रम की पूरक हों, मनुष्य के श्रम को सुगम बनायें, न कि मनुष्य का स्थान स्वयं ले लें। ऐसी ही मशीनें जापान में खेती में प्रयोग की जाती हैं।

पिछले पृष्ठों में हमने सुझाव दिया है कि लोग अधिकाधिक कृषीतर धन्धों में लगें। इससे कोई ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिए। हमारे कहने का मतलब था कि यदि लोग खेती से सन्तुष्ट रहे तो वे ग़रीब बने रहेंगे। हमारा यह मतलब नहीं था कि आज जो लोग खेती में लगे हैं उनकी मेहनत का पूरा इस्तेमाल होता है या यह कि अब खेती में रोज़गार की गुंजायश नहीं। न हमारा यह मतलब था कि आज जैसी स्थिति में भी जब हमारे देश में कृषीतर रोजगार नहीं मिलता (उसकी वजह चाहे जो हो) बेरोज़गार अथवा अल्परोज़गार वाले खेती में न लगे रहें। लेकिन आर्थिक जीवन के कुछ ठोस तथ्य होते हैं जिनके बारे में कोई विवाद नहीं होता। वे तथ्य यह हैं कि लगभग हर देश में कृषि से होने वाली प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा कृषीतर धन्धों से होने वाली औसत-प्रति व्यक्ति आमदनी ज़्यादा होती है, और लोगों के रहन-सहन का स्तर तभी बढ़ता है—भारत जैसे सघन खेती के देश में (जहाँ भूमि-मनुष्य अनुपात बहुत कम हो) तभी बढ़ सकता है—जब खेतिहर मजदूर कृषीतर धन्धों में स्थानान्तरित हो जायें। लेकिन विडम्बना यह है कि कृषिगत समृद्धि (अर्थात् कृषि की उत्पादकता में वृद्धि) के बिना लोग खेती से हटकर कृषीतर धन्धों में नहीं जा सकते। कृषि

में रोजगार की कमी से एक प्रकार से कृषि को हानि होगी लेकिन सारे समाज की सम्पन्नता के लिए यह कमी दीर्घकाल में कल्याणकारी ही होगी। कृषि की उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ उसकी पैदावार के उपभोग पर प्रकृति द्वारा लगी दूरगामी पाबन्दियों से खेतिहर मज़दूरों की संख्या में तीव्र एवं समान गति से कमी होगी।

टाइम्स ऑफ़ इण्डिया (नई दिल्ली) ने एक सम्पादकीय लेख में (21 अक्तूबर 1975) पिछले नौ वर्षों में संगठित उद्योग में रोज़गार में वृद्धि न होने पर टिप्पणी करते हुए लिखा था :

> "ऐसी स्थिति के लिए कुछ हद तक इस बात को दोष दिया जा सकता है कि पिछले तीन दशकों में जो उपभोक्ता उद्योग स्थापित हुए हैं वे सभी श्रमिकों को विस्थापित करने वाले हैं। जूता बनाने के कारखाने, रोटी बनाने के मशीनीकृत कारखाने, खाना पकाने के बर्तन बनाने वाले कारखाने, मशीनों से ईंट बनाने वाली भट्टियां, सूती कपड़ा रंगने व छापने वाली मिलें तथा ऐसे ही धन्धों ने लाखों जूता बनाने वालों, रोटी बनाने वालों, कुम्हारों, ईंट बनाने वालों, कपड़े की छपाई करने वालों आदि को बेरोज़गार बना दिया है। अभी तक यह धन्धे बिलकुल खत्म नहीं हुए हैं। इसलिए अभी सरकार के लिए यह सम्भव है कि उनका पुनरुत्थान करके दसियों लाख आदमियों को रोज़गार दे दे। इसके लिए सिर्फ़ यह करना होगा कि सम्बन्धित बड़े स्तरीय धन्धों पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें या उनके उत्पादन पर भारी कर लगा दिये जायें।"

विकेन्द्रित व कम गहन (कम इन्टेन्सिव) धन्धों के लाभ वित्तीय दृष्टि से इतने कम हैं कि खुले बाज़ार में उनके उत्पाद उत्तम व आधुनिक प्रौद्योगिकी वाले उद्योगों के उत्पाद के मुक़ाबले में टिक नहीं सकते। इसलिए श्रम-प्रधान धन्धे तभी जीवित रह सकते हैं या उनका पुनरुत्थान किया जा सकता है जब उन्हें कानून द्वारा संरक्षण प्रदान करके बड़े स्वचालित उद्योगों के आक्रमण से बचाया जाय। हम अगर सचमुच कुछ करना चाहते हैं तो क़ानून बनाकर तय करना होगा कि कौन उद्योग किस प्रकार का (बड़ा या छोटे स्तर का) उत्पादन कर सकता है। ऐसी सेवाएँ व माल पैदा करने के लिए, जो कुटीर अथवा लघु उद्योग पैदा कर सकते हैं, भविष्य में किसी बड़े या मंझोले स्तर के उद्यम को इजाज़त नहीं दी जायगी। ऐसी सेवाओं व माल के उत्पादन के लिए जो कुटीर उद्योग पैदा कर सकते हैं, किसी लघु उद्योग को भी इजाज़त नहीं दी जायगी। इसका मतलब है कि आज जो मिलें व कारखाने (मिसाल के लिए सूती कपड़ा मिलें)

ऐसा माल बना रहे हैं जिसका उत्पादन छोटे व कुटीर उद्योगों द्वारा किया जा सकता हो, उनको अपने उत्पाद देश में बेचने की इजाजत नहीं होगी। वे उसे निर्यात कर सकते हैं। इस निर्देश पर तुरन्त कार्य नहीं हो सकता तो धीरे-धीरे किया जायगा। उन उद्योगों को (जिन्हें अपना माल देश में बेचने की इजाजत नहीं होगी) विदेशी मण्डियों में अन्य देशों के माल के साथ प्रतियोगिता में सरकार भरसक सहायता देगी। लेकिन यदि वे प्रतियोगिता में टिक न सके तो उन्हें अपना धन्धा बन्द करना होगा लेकिन घरेलू मण्डी ऐसे माल के लिए छोटे व कुटीर उद्योगों के लिए ही सुरक्षित रहेगी।

जो इस सुझाव के आलोचक हों हम उन्हें बताना चाहेंगे कि ऐसे उन्नत प्रौद्योगिकी वाले उद्योग भी, जैसे इस्पात, चीनी या सीमेंट तभी चल पाते हैं जब सरकार विदेशी प्रतियोगिता से उनको अपनी कर-नीतियों द्वारा व अन्य उपायों से संरक्षण प्रदान करती है। एल्यूमिनियम उद्योग को सस्ती बिजली दी जाती है, उसे प्रति इकाई 2 से 4 पैसे तक देने होते हैं जबकि एक ग़रीब किसान को इसका 5 से 6 गुना अधिक देना होता है। राज्यों के औद्योगिक विकास बोर्ड उद्योगों को अपने यहाँ ले जाने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन देते हैं—मुफ़्त ज़मीनें, सरल ऋण, करों में छूट, सस्ती बिजली, रेल से माल उतारने-चढ़ाने के लिए प्लेटफ़ार्म, स्कूल व स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ और न जाने क्या-क्या। घाटे की सूती कपड़ा मिलों में हर वर्ष 50 करोड़ रुपये से अधिक लगाया जाता है जो बेकार जाता है। ऐसे उदाहरणों का अन्त नहीं जिनसे मालूम होता है कि किस-किस प्रकार से खुले रूप में अथवा छुपे ढंग से सरकार बड़े-स्तर के उद्योगों को सहायता देती है—और कहती है कि यह जन-हित में किया जा रहा है।

यह पूछना वाजिब होगा कि क्या उस समय तक जब सभी बेरोजगार लोगों को काम मिल जाता, भारत को ऐसे उद्योग लगाने चाहिए थे—या अब जबकि हालत और ख़राब हो गयी है, लगाते रहना चाहिए—जिनमें अधिक पूंजी लगाने की ज़रूरत हो और जिनसे प्रति व्यक्ति अधिक उत्पादकता बढ़ती हो ? हम अंग्रेज़ों से यह आशा नहीं करते थे कि वे हमारी समस्याओं को अच्छी तरह समझेंगे—उनके ज़माने में ही हमारे देश में पूंजी-प्रधान उद्योग लगाना शुरू हुए। लेकिन अफ़सोस यह है कि बेरोज़गारी इतनी बढ़ गयी है कि डर लगने लगा है, फिर भी (बड़ी स्वचालित इकाइयों द्वारा) प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ाना हमारे देश में इतना लोकप्रिय है।

हमारे उपरोक्त सुझाव में सामाजिक न्याय (व रोज़गार) की माँगों तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद बढ़ाने की आवश्यकता का समन्वय किया गया है। कृषि की तरह विनिर्माण उद्योग में भी अधिकतम उत्पादन व अधिकतम रोज़गार परस्पर विरोधी लक्ष्य नहीं हैं। और फिर बेरोज़गारी कम करने से उपभोग का

स्तर ऊँचा उठता है, खासतौर पर उन लोगों के उपभोग का जिनको ऊपर उठाने की सबसे ज़्यादा जरूरत है। (इस तरह देश की राजनीतिक कमज़ोरी को दूर करने के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता भी सुदृढ़ होती है।)

उचित तकनीक चुनने की आवश्यकता पर बल देने में हमें प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, ससेक्स विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डडले सीयर्स का समर्थन प्राप्त है। उनका कहना है कि कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में ऐसी नीतियों पर चलना चाहिए जो रोज़गार बढ़ा सकें—पहले तो यह तय करने में मदद करके कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और फिर यह तय करने में मदद करके कि उनका उत्पादन कैसे किया जाय। उनका मत है कि उत्पादनकर्त्ता को उत्पादन के ऐसे तरीक़े अपनाने के लिए, जिनमें श्रम-प्रधान तकनीकों का प्रयोग किया जाय, यह इन्तज़ाम करके राज़ी किया जा सकता है कि श्रम व पूंजी के तुलनात्मक मूल्य उनकी उपलब्धि की स्थिति पर पूरी तरह से आधारित हों। परन्तु ताइवान, मिश्र, कोरिया व यूगोस्लाविया जैसे कुछ देशों को छोड़कर भारत की तरह के अन्य विकासोन्मुख देशों ने पूंजी-प्रधान और श्रम-बचाव वाले ढंग से विकास करना पसन्द किया है जिसका नतीजा है कि वे ऐसी नीतियों पर काम करते हैं जो श्रम को महंगा बनाती हैं व पूंजी को सस्ता, हालांकि श्रम की अधिकता है और पूंजी की कमी।

नई दिल्ली में फ़ोरम ऑफ़ फ़ाइनेन्शियल राइटर्स के तत्वाधान में दिसम्बर 1972 में आर्थिक विषय पर लिखने वाले पत्रकारों की एक विचार-गोष्ठी के समक्ष भाषण देते हुए अमरीकी विकास-अर्थशास्त्री एडगर ओवेन्स ने इस प्रक्रिया की ओर निम्नलिखित शब्दों में ध्यान आकर्षित किया था :

> "आमतौर से यह कहा जा सकता है कि विकासशील देशों में बढ़ते हुए उत्पादन की—या तकनीकी भाषा में पूंजी-उत्पाद अनुपात की—पूंजी-लागत कम होनी चाहिए। कुछ तो यह इसलिए होना चाहिए कि पूंजी की कमी है, कुछ इसलिए कि वह प्रौद्योगिकी अपेक्षाकृत कम दाम की व आसान होती है जिसके द्वारा लोगों को आज से अधिक उत्पादन करने में मदद मिले।
>
> "धनवान देशों में उत्पादन बढ़ाने की पूंजी-लागत कहीं अधिक होनी चाहिए क्योंकि अति उन्नत प्रौद्योगिकी महंगी होती है। इसलिए श्रम-प्रधान, पूंजी-बचाव व छोटे उत्पादकों वाले ताइवान व कोरिया जैसे देशों में पूंजी-लागत कम होनी चाहिए, जापान व इस्राईल जैसी धनी अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी-लागत कुछ अधिक होनी चाहिए तथा पूंजी-लागत सबसे अधिक होनी चाहिए पूंजी-प्रधान, श्रम-बचाव, बड़े-उत्पादक पश्चिमी देशों में।"

लेकिन इसका उलटा हो रहा है। वे देश जिनके पास श्रम अधिक है, श्रम पर भरोसा करने के बजाय मशीनों पर भरोसा कर रहे हैं। जापान व इस्राईल में आमदनी बहुत है लेकिन वहां की अपेक्षा कई लातिनी अमरीकी देशों में उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक पूंजी लगती है। जापान फ़िलिपीन्स से कहीं अधिक धनी है लेकिन जापान में कम पूंजी लगती है। यही बात भारत व अमेरिका के बारे में भी सही है।

विकास की पूंजी-लागत

देश	1 डालर उत्पादन बढ़ाने में पूंजी-लागत डालरों में (1960-69)	प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद में औसत वार्षिक वृद्धि—प्रतिशत (1960-69)
कोरिया	1.70	6.4
ताइवान	2.10	6.3
मैक्सिको	3.10	3.4
मोरक्को	3.20	3.4
फ़िलीपीन्स	3.50	1.9
भारत	3.90	1.1
पीरू	4.00	1.4
कोलम्बिया	4.30	1.5
वैनेज़्यूला	4.90	2.5
इस्राईल	2.90	5.3
जापान	2.90	10.0
अमेरिका	3.70	3.2
फ्रांस	4.00	4.8
नीदरलैण्ड्स	5.00	3.1

स्रोत : वर्ल्ड बैंक ऑर्गनाइज़ेशन फ़ॉर इकॉनॉमिक कोऑपरेशन एण्ड डिवलपमेंट, 1971; और यू० एस० एजेन्सी फ़ॉर इण्टरनेशनल डिवलपमेंट, 1970।

इसी प्रकार विकासोन्मुख देशों में मशीनों के श्रायात के लिए कर-सम्बन्धी रियायतें दी जाती हैं श्रौर श्रासानी से श्रायात-पर्मिट जारी कर दिये जाते हैं, लेकिन यह ध्यान नहीं रखा जाता कि इन मशीनों का रोजगार पर क्या श्रसर पड़ेगा। विनिमय दर को इस तरह से बढ़ा दिया जाता है कि उसके फलस्वरूप मशीन के श्रायात को सरकारी वित्तीय सहायता मिल जाती है। देश के श्रन्दर बैंकों के ब्याज की दर को इस तरह से कम करके रखा जाता है कि बड़ी श्राधुनिक कम्पनियों को सुगमता से ऋण मिल जाता है। लेकिन श्रगर विनिमय दर को कम करके व ब्याज की दर को बढ़ाकर पूंजी के इस्तेमाल को बहुत महंगा व मज़दूर सभाश्रों पर प्रतिबन्ध लगाकर श्रम को सस्ता बनाने के लिए क़दम नहीं उठाये जाते तो कोई भी उद्योगपति श्रम-प्रधान तकनीकों को, चाहे वे श्रासानी से ही मिल जाती हों, कभी तलाश करके इस्तेमाल नहीं करेगा।

मज़दूर सभाश्रों का उल्लेख करते हुए प्रोफ़ेसर सीयर्स ने लिखा है कि वे श्रम को महंगा बना देती हैं—इतना महंगा बना देती हैं जितना भारत जैसे श्रल्पविकसित व विकासोन्मुख देशों में उसे होना नहीं चाहिए। "मज़दूरों से सम्बन्धित क़ानूनों (श्रौर श्राधुनिक क्षेत्र में दिये जाने वाले श्रधिक वेतनों) की वजह से श्रधिक मज़दूर रखना मुश्किल हो जाता है। श्रगर मज़दूरों के साथ यह पक्षपात बन्द कर दिया जाय तो मालिक लोग बहुत सोच-समझकर ही ऐसी तकनीकों का प्रयोग करेंगे जो बहुत बड़ी मशीनों पर श्राधारित हों।" यदि मज़दूर श्रान्दोलन को सीमा में रखा जाय तो हमारे बड़े उद्योग को विदेशी मण्डियों में विदेशी माल के मुकाबले में श्रपना माल बेचने में हमारे यहां की सस्ती मज़दूरी बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है।

हमारे नेता व श्रर्थशास्त्री शायद यह न जानते हों लेकिन विदेशी श्रर्थशास्त्रियों को मालूम है कि विशाल श्रम-शक्ति के रूप में—सस्ते मज़दूरों के रूप में—हमारे पास बहुत बड़ी सम्पत्ति मौजूद है। **टाइम्स श्रॉफ़ इण्डिया** (नयी दिल्ली) ने श्रपने 25 नवम्बर 1973 के श्रंक में यह रिपोर्ट प्रकाशित की थी :

> "चार नयी विदेशी फ़र्मों ने यह प्रस्ताव रखा है कि वे श्रपनी फ़ैक्ट्रियां भारत में ले श्रायेंगी श्रौर लगातार उन फ़ैक्ट्रियों के सारे उत्पाद को ख़रीद लेंगी। उनका उद्देश्य भारत में कुशल कारीगरों की सस्ती मज़दूरी से लाभ उठाना है। भारत में श्रपने प्लांट लाने से जो उत्पादन होगा उसका निर्यात किया जायगा जिससे काफ़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा कमायी जा सकती है।"

ऋण तथा विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में और विदेशी मशीनें आयात करने के मामले में उचित नीतियों पर चल सकना तो सम्भव है लेकिन राजनीतिक परिस्थितियां ऐसी हैं कि मजदूरों के लिए कानून बनाने में उचित नीतियों के अनुसार नहीं चला जा सकता। दूसरे शब्दों में, मजदूर सभाओं की रोक-थाम कर सकना और मजदूरों से लालच कम करने और अपने ऊपर नियन्त्रण करने के लिए कह सकना सम्भव नहीं है। लेकिन यह तो सम्भव है कि उत्पादन की तकनीकों को इस प्रकार से नियन्त्रित किया जाय कि मजदूर सभाओं व मज़दूरों के लालच पर नियन्त्रण लगाने की जरूरत ही न पड़े। इसके लिए सिर्फ़ यह जरूरी है कि योजना आयोग महात्मा की—जिसकी स्मृति को रोज़ाना दूषित किया जाता है—एक मामूली-सी बात ध्यान में रखें। गांधी ने कहा था कि बड़े स्तर पर कारखानों में वही चीजें तैयार की जानी चाहिए जो लघु या कुटीर उद्योग तैयार नहीं कर सकते। उनकी राय मान ली जाय तो विकास का मूल्य कम हो जायगा, रोज़गार के अवसर बहुत अधिक संख्या में खुल जायेंगे लेकिन मजदूर सभाओं की जरूरत नहीं रहेगी क्योंकि कुटीर उद्योगों में तो भाड़े के मजदूर होंगे नहीं और लघु उद्योगों में भी बहुत कम होंगे।

लघु उद्योग में न्यूनतम वेतन निर्धारित करने या वेतन सम्बन्धी अनियमितताओं को सुधारने के लिए कोई क़ानूनी काम नहीं किया जाना चाहिए। हालांकि इस सुझाव का राजनीतिक व सामाजिक कारणों से विरोध किया जायगा लेकिन सस्ते मजदूर हमारी सबसे महान सम्पत्ति हैं, और हमें उनके ही हित में तथा राष्ट्रीय हित में इस सम्पत्ति को बेकार नहीं खोना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारे परहेज़ से रोज़गार के नये मार्ग खुलेंगे, आर्थिक संवृद्धि की दर बढ़ेगी, आय की असमानताएँ कम होंगी और निर्यात बढ़ेगा।

एक बार उत्पादन की तकनीकों पर नियन्त्रण हो जाय, अर्थात् हम यह तय कर दें कि माल कैसे पैदा होगा, और आय अधिकर लोगों में बँट सके, तो फिर हमें यह चिन्ता करने की जरूरत नहीं रहेगी कि कैसा माल बनता है—वह माल बनता है जिसे सर्व-साधारण इस्तेमाल करते हैं, या वह माल बनता है जिसे विशिष्टजन ही प्रयोग में लाते हैं। यह अपने आप ठीक हो जायगा, क्योंकि तकनीकी सीमाओं के कारण ये (श्रम-प्रधान) उद्योग कुछ यदाकदा अपवादों को छोड़कर ऐसा माल ही बनायेंगे जिसकी कम आमदनी वाले, गाँव में रहने वाले या आस-पड़ोस के शहरों में रहनेवाले साधारण-जन को ही ज़रूरत होती है। इस प्रकार दोनों तरह के माल में भेद करने (जो मनमाने ढंग से ही किया जा सकता है) मूल्य-निर्धारण के रूप में या माल की गुणवत्ता अथवा मात्रा पर नियन्त्रणों के रूप में उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाने, तथा संस्थागत सुधार करने के प्रलोभन से सरकार बच जायगी। संस्थागत सुधार स्वतन्त्र

आर्थिक कार्यों को सीमाबद्ध करते हैं और जिस हद तक स्वतन्त्र आर्थिक कार्य सीमाबद्ध होते हैं उसी हद तक जनतन्त्र भी सीमित हो जाता है।

हमारे देश में बड़े-स्तरीय तथा लघुस्तरीय उद्योगों के बीच चुनाव करने का प्रश्न उतना नहीं है जितना बिजली से चलने वाले (बड़े या छोटे) उद्योगों व कुटीर उद्योग में से एक को चुनने का है। कुटीर उद्योग ही गांवों में रहने वाले उन असंख्य लोगों को रोजगार दे सकते हैं जो बुवाई व कटाई के दिनों में तो व्यस्त रहते हैं लेकिन बाकी दिनों में बेकार रहते हैं। शहरों व देहातों में जो 'औपनिवेशिक' रिश्ता बन गया है, वह तभी खत्म होगा जब साबुन से लेकर कपड़ा तक सभी उपभोक्ता माल गांवों में बनें और गांवों में बिकें।

इसलिए कुटीर व लघु उद्योग के बीच भी इस तरह भेद करना होगा ताकि कुटीर उद्योगों को लाभ पहुँचाने के लिए लघु उद्योगों की रोकथाम की जा सके। आज की आर्थिक स्थिति में हमारे सामने मुख्य सवाल यह है कि गांवों के लोगों को रोजगार मिले। हालांकि लघु उद्योगों में मँझोले व बड़े उद्योगों की अपेक्षा पूँजी-लागत की प्रति इकाई रोजगार अधिक मिलता है (और उत्पादन भी अधिक होता है) लेकिन कुटीर उद्योग को दोनों से बचाने की आवश्यकता है। तभी हम महात्मा गांधी का पचास वर्ष पहले का स्वप्न साकार बना सकेंगे। उन्होंने कहा था कि "शहरवालों ने गांवों से जो कुछ निर्दयता के साथ और बिना सोच-समझकर छीना है, वह गांव वालों को वापस मिलना चाहिए।"

दक्षिण एशियाई देशों की औद्योगिक नीतियों की चर्चा करते हुए विख्यात स्वीडिश अर्थशास्त्री व समाजशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने भी आधुनिक तथा परम्परागत क्षेत्रों के साथ-साथ रहने की आवश्यकता पर बल दिया था :

> "गांवों में कुटीर उद्योग को बरक़रार रखने तथा बढ़ाने का अर्थ है कि दक्षिण एशिया के अल्प-विकसित देशों में दो विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र हों—एक तो छोटा-सा परन्तु धीरे-धीरे विस्तार करता हुआ बड़े स्तरीय तथा छोटे-स्तरीय विनिर्माण उद्योगों का पूरी तरह आधुनिकीकृत क्षेत्र, और दूसरा क्षेत्र वह जिसमें उद्यम परम्परागत उद्यमों से भिन्न नहीं होंगे और जो तेजी से बढ़ते हुए श्रमिकबल को रोजगार देते रहेंगे। क्योंकि आधुनिकीकृत क्षेत्रों में श्रम की बचत की जायगी और बहुत दिन तक अधिक रोजगार नहीं मिलेगा, जबकि इस शताब्दी के अन्त तक श्रमिकबल तेजी से बढ़ता रहेगा, इसलिए यह द्विक्षेत्रीय संरचना संक्रामक नहीं होगी। यह मानना पड़ेगा कि यह संरचना कई दशक तक रहेगी।"[1]

---

[1] 'एशियन ड्रामा', पृ० 1239।

विनिर्माण के अतिरिक्त कृषीतर क्षेत्र के अन्य उपक्षेत्रों के रूप में परिवहन व संचार सबसे अधिक रोजगार मुहैय्या कर सकते हैं। 1974 में परिवहन व संचार में 23.9 लाख व्यक्ति रोजगार से लगे हुए थे और निर्माण कार्यों में 11.8 लाख लोगों को काम मिला हुआ था। लेकिन इन क्षेत्रों में आज से कहीं अधिक रोजगार मिल सकता है। भोजन तथा कपड़े के बाद मनुष्य की सबसे मूलभूत आवश्यकता है आवास, लेकिन हम देख चुके हैं कि हमारे देश में दसियों लाख आदमी ऐसे है जिनके पास रहने को घर नहीं हैं। इसी तरह सड़कें (व परिवहन) आर्थिक संवृद्धि के लिए परमावश्यक हैं लेकिन दुनिया के बहुत से देशों की अपेक्षा भारत में प्रति लाख जनसंख्या के हिसाब से सड़कें बहुत कम हैं। किसी भी विकासोन्मुख क्षेत्र में नयी सड़क बनने से वहां के संसाधनों के प्रयोग के लिए नये लाभदायक अवसर उत्पन्न हो जाते है। नयी सड़कों का निर्माण स्थानीय फ़सलों की पैदावार पर असर डालता है, उनके निवेशों को मुहैया करने के लिए सुविधाजनक होता है, उस क्षेत्र की मण्डी का आकार बढ़ता हैं, वहां बेचने लायक़ अतिरिक्त उत्पादन बढ़ाता है, उत्पाद के लिए पहले से अच्छी क़ीमत दिलाता है, श्रमिकों की गतिशीलता बढ़ाता है, और ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन देता है जो स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग कर सकें वर्ना यह कच्चा माल ऐसी जगहों पर न भेजे जा सकने के कारण जहां उसकी मांग हो, बेकार जाता था।

1961-81 की सड़कों की योजना के अनुसार नयी सड़कें बनाने पर 19 करोड़ रुपया तथा पुरानी सड़कों के रख-रखाव पर 50 लाख खर्च होना था। नीचे दी गयी तालिका से मालूम होगा कि इस लागत से हर वर्ष कितने तकनीकी कर्मचारियों के लिए रोज़गार के अवसर पैदा होते हैं:

तकनीकी कर्मचारियों की कोटि	निर्माण व नियोजन के लिए	रख-रखाव के लिए
स्नातक	300	18
डिप्लोमा वाले	1,080	53
अन्य तकनीकी कर्मचारी	1,125	62

"विकास की विभिन्न मदों में एक है 'निर्माण'। इसके अन्तर्गत रोजगार की दृष्टि से सबसे अधिक सम्भावना सड़कों के निर्माण में है। एक करोड़ रुपया खर्च करने से सड़कों के निर्माण में 10,452 लोगों को रोजगार मिल सकता है, जबकि कृषि उत्पादन में 5,200 को, वन तथा भूमि-संरक्षण में 8,000 लोगों को, आवास-निर्माण में 5,000 को, बड़े व

मँझोले सिंचाई के साधनों के निर्माण में 7,000 को और बड़े व मँझोले उद्योगों में 1,700 को। लेकिन सड़कों पर समान राशि के खर्च से रोज़गार की 'निरन्तरता' कम होती है। सड़कों पर रोज़गार की 'निरन्तरता' संख्या 1,000 है जबकि कृषि में 1,250 हैं, आवास में 300, ग्रामीण व लघु-धन्धों में 3,200 और सड़क-परिवहन में 2,500।"[1]

जहाँ तक मकान व इमारतें बनाने का प्रश्न है, अभी हाल तक भारत सरकार दिल्ली की हिन्दुस्तान हाउसिंग फ़ैक्ट्री की तरह प्रीफ़ैब्रीकेटिड मकान बनाने के कई कारखाने लगाने की योजना चला रही थी। उत्तर प्रदेश सरकार ने तय किया था कि 1973-74 में गाँवों में पाठशालाओं के लिए 5,000 इसी प्रकार की इमारतें बनायी जायें जिनमें हर एक पर 10,000 रु० खर्च होता। इस तरह की योजना से मकान बनाने वाले मजदूरों के रोज़गार तो कम होते ही, रुपया भी ज्यादा खर्च होता। इसके स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है कि प्रीफ़ैब्री-केटिड मकान बनाने पर निर्माण के परम्परागत तरीक़ों से अधिक खर्च होता है। लेकिन सरकार को इसकी परवाह नहीं थी। इसी प्रकार प्रीफ़ैब्रीकेटिड पुल बनाये जा रहे हैं जबकि जहाँ पुल बन रहे हैं वहीं हजारों लोग बेकार घूम रहे हैं जो अपने हाथों से उतनी ही कुशलता के साथ काम कर सकते थे। मशीनों से ईंटें बनाने को भी बढ़ावा दिया जा रहा है।

सड़कों व इमारतों के अलावा इस तरह के निर्माण कार्य भी चल रहे हैं तथा और भी चलने चाहिएं जैसे रेलवे की लाइनें बनाना, सिंचाई तथा जल-विद्युत के लिए तालाब व बाँध बनाना, आदि। यह सभी निर्माण कार्य हाथों से या अन्य श्रम-प्रधान उपायों से किये जा सकते हैं जिनसे लाखों नौकरियों के रूप में तुरन्त ही बहुत अधिक प्रतिफल प्राप्त हो सकता है। इसलिए किसी भी प्रकार के मकान, इमारतें या अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्य के लिए कोई मशीन इस्तेमाल नहीं की जानी चाहिए। हमारे यहाँ इतनी अधिक श्रमिक शक्ति उपलब्ध है कि ज़मीन खोदने वाली या मिट्टी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने वाली विशालकाय मशीनों का प्रयोग अनावश्यक है। इन मशीनों से बेकारी बढ़ेगी। हमारी सड़कें, पुल, बाँध या तालाब कोई विदेशी मण्डियों में तो जाकर दूसरों से मुक़ाबला करने वाले नहीं हैं जो उनको मशीनों से बनाया जाय।

कुछ को छोड़कर सभी केन्द्रीय विभागों में कम्प्यूटर तथा आँकड़ों का प्रक्रमण करने वाले यन्त्र लगा लिये गये हैं। बराबर इस तथ्य की उपेक्षा की

---

1. अशोक वी० बुलेश्कर, संपादक : 'टुवर्ड्स सोशलिस्ट ट्रांसफ़ॉर्मेशन इन इंडियन सोसाइटी', पॉपुलर प्रकाशन, 1972।

जाती है या इसे भुला दिया जाता है कि जो काम हाथ से हो सके उसकी जगह मशीन लगाने से उत्पादन नहीं बढ़ता बल्कि श्रम की बचत हो जाती है जिससे बेरोजगारी बढ़ती है। मशीनों की जरूरत तो तब होती है जब किसी काम को करने के लिए कम आदमी मिलें या जब कोई काम हाथों से न किया जा सके।

यदि भारत को जिन्दा रहना है और दुनिया में कुछ करना है तो उसकी अर्थव्यवस्था में व्याप्त बेरोजगारी व अल्प-रोजगारी को खत्म करना होगा। इसलिए दो टूक घोषणा कर देनी चाहिए कि हमारी अर्थनीति का उद्देश्य अब सकल राष्ट्रीय उत्पाद बढ़ाना नहीं बल्कि उत्पादक रोजगार बढ़ाना है। अधिक रोजगार की व्यवस्था होने से सकल राष्ट्रीय उत्पाद में स्वयं वृद्धि होगी लेकिन अगर हमें कम रोजगार के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि तथा दूसरी ओर अधिक रोजगार के साथ धीमी रफ़्तार से संवृद्धि में से एक को चुनना हो तो बिना झिझके हम अधिक रोजगार वाला रास्ता चुनेंगे।

निष्कर्ष

गांधीजी ने सोचा था कि हम अपने ही साधन-भण्डार के आधार पर और अपनी ही तकनीकों से या उन तकनीकों से जो हमारे यहां पूंजी की कमी व श्रम के बाहुल्य की स्थिति के अनुकूल हों, अपनी अर्थव्यवस्था की संवृद्धि करेंगे। हमारी संवृद्धि के लिए कौन-सी नीति उपयुक्त होगी, यह इस बात से तय होना चाहिए था कि हमारे पास है क्या। आत्मनिर्भरता को बहुत ऊंची प्राथमिकता दी गयी थी।

दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता के बाद जिन लोगों ने नेतृत्व संभाला उनके कुछ दूसरे ही विचार थे। देश की आर्थिक योजनाएं विदेशी प्रौद्योगिकी के आधार पर बनने लगीं। घरेलू आर्थिक व सामाजिक स्थितियों तथा विदेशी प्रौद्योगिकी के परिणामों की असंगतियां उनको नजर नहीं आयीं। लकड़ी व बांस का स्थान ले लिया इस्पात ने जो कम उपलब्ध वस्तु है। सीमेंट ने चूने-गारे की जगह ले ली। परिवहन व बिजली उत्पादन में कोयले की जगह पेट्रोल और पेट्रोलियम उत्पाद की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी। जैव खाद की अपेक्षा रासायनिक उर्वरक अधिक पसन्द किये जाने लगे और उर्वरकों के उत्पाद में भी कोयले की अपेक्षा नैफ़्ता पसन्द किया जाने लगा।

इस प्रकार जान-बूझकर व मुस्तैदी के साथ हम गांधी के मार्ग से हट गये। आत्मनिर्भरता की आवश्यकता को पूरी तरह भुला दिया गया। विदेशी प्रौद्योगिकी को हमारी अर्थव्यवस्था पर थोप दिया गया और यह भी नहीं सोचा गया कि दोनों को अलग-अलग तरह के व अलग-अलग मात्रा में साधन चाहिए। इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया गया कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि में

तथा अधिक सेवाओं व अधिक माल को उपलब्ध करने में व्यक्तियों का योगदान आवश्यक है। इसके विपरीत राज्य की भूमिका तथा विशाल व दुर्दम सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का हल निकालने की उसकी क्षमता को बढ़ा-चढ़ाकर देखा गया। राज्य की पेशक़दमी और ऐसी विशालकाय परियोजनाओं को ही सब-कुछ समझा गया जिनको अनिवार्य रूप से आयात की हुई विदेशी प्रौद्योगिकी तथा प्राथमिक, प्रकर्मित अथवा माध्यमिक विदेशी साधनों की आवश्यकता थी। हमारी परियोजनाओं के लिए दूसरे देशों में लोगों को रोज़गार मिला, और हमारे लोगों को बेकार रहने के लिए विवश किया गया।

हमारी आर्थिक प्रगति की नीतियों में इस दुर्भाग्यपूर्ण मोड़ के आने का नतीजा यह हुआ कि देश के अन्दर एक सशक्त वर्ग बन गया जिसके हित हर प्रकार के आयात व विदेशी प्रौद्योगिकी के अंधाधुन्ध आयात के साथ जुड़ गये। और यह फ़िज़ूल की दलील दी जाने लगी कि इन आयातों से ही देश के विकास की गति तेज होगी।

इस प्रकार हमने एक ऐसी इमारत खड़ी कर दी जिसकी नींव बहुत कमज़ोर है। हमारे देश के करोड़ों लोगों को न तो प्रगति से कोई लाभ पहुँचा है, न वे प्रगति की प्रक्रिया में भाग ले पा रहे हैं। हर स्तर पर जन-आकांक्षाओं का दमन हुआ है और हर पहल को व हर प्रोत्साहन को रोका गया है। इस नीति में एक सर्वव्यापी संकट निहित है जो इस दृष्टिकोण का अंतरंग भाग था।

हमारे गहरे होते हुए आर्थिक संकट के अनिष्टसूचक आयाम गांधी द्वारा दिखाये गये मार्ग से हट जाने के सूचक हैं। गांधी की नीति सीधी-सादी थी—जनता को सम्पत्ति के उत्पादन में लगाना चाहिए, जनता गाँवों के जंगलों का विकास करे, जैव खाद बनाये, नाले-नालियाँ खोदे, और असंख्य छोटी-छोटी परियोजनाओं से ऊर्जा बनाये, जितने व्यापक स्तर पर हो सके जनता को पहल करने दी जाय, ज़रूरी हो तो बड़ी पूंजी-प्रधान परियोजनाओं को भी लिया जाय लेकिन स्थानीय साधनों के सहारे ही उनको चलाया जाय।

भारत ने धृष्टता के साथ गांधी का परित्याग कर दिया जिसके दुष्परिणाम आज नज़र आ रहे हैं, लेकिन कुछ अन्य देशों ने, विशेष रूप से चीन, वियतनाम और तंज़ानिया ने, न केवल गांधी की तरह के नियोजन से लाभ उठाया बल्कि बाक़ी दुनिया को दिखा दिया कि एक कृषि-प्रधान देश के लिए, विशेष रूप से विकास की आरम्भिक मंज़िलों में, गांधी द्वारा प्रस्तावित योजना ही मूल रूप से उचित है।

शुरू में कुछ वर्षों तक सोवियत संघ पर निर्भर रहने के बाद चीन ने अपने अनुभव से सोवियत की दुम से बँधे रहने के नतीजों को समझ लिया। चीन ने किसी से समझौता नहीं किया, फिर भी जब माओ की मृत्यु हुई तो वह देश

किसी का क़र्ज़दार नहीं था और उसकी बेरोज़गारी की समस्या क़रीब-क़रीब हल हो चुकी थी। वियतनाम की सफलताएँ भी ऐसी ही चमत्कारपूर्ण हैं और राष्ट्रपति नायरेरे के नेतृत्व में तंज़ानिया तो नियोजन के प्रति गांधीवादी दृष्टिकोण के मुख्य सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने का एक प्रामाणिक नमूना बन गया है।

आज हमारे देश में अत्यधिक लागत के पूंजी-प्रधान उद्योग लग रहे हैं जो शहरों के विशिष्ट समाज की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं या अपना माल मामूली दाम पर निर्यात कर देते हैं। जब तक इस प्रकार के आर्थिक विकास के साथ हम बंधे रहेंगे तब तक न केवल बेरोज़गारी बढ़ती रहेगी, पूंजी कुछ हाथों में केन्द्रित होती रहेगी, हमारा देश सम्पन्न देशों का बन्धक बना रहेगा बल्कि खतरा यह है कि उसके पराधीन बन्धन और मज़बूत होते जायेंगे। इस बन्धक बने रहने की स्थिति से बचने, दूसरे शब्दों में वित्तीय व तकनीकी आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने का एक मात्र व एक ही सही रास्ता यह है कि औद्योगीकरण के इन तरीक़ों से अपना नाता तोड़कर हम गांधी के रास्ते पर चलें—यह ज़रूर है कि गांधी की शिक्षाओं को आज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाना होगा। गांधी के मार्ग का तक़ाज़ा है कि उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे जूते, कपड़ा या साबुन का, मशीनों द्वारा उत्पादन निषिद्ध कर दिया जाय और मशीनों का स्थान कुटीर उद्योग ले लें; रासायनिक उर्वरकों का स्थान यथासम्भव जैव खाद स्वीकारें; शहरों का इस प्रकार नियोजन किया जाय कि बिजली द्वारा चालित परिवहन की आवश्यकता कम-से-कम हो जाय; और शहरों में मकान बनाने के लिए इस तरह के नियम हों कि रईस व ग़रीब, सभी सस्ती व छोटी घनी बस्तियां बनाने के लिए विवश हों जिनमें ऐसा स्थानीय माल इस्तेमाल हो जो कम दाम में मिल सके जैसे बांस, गारा, ईंटें व खपरैल।

जब तक लोगों को पूरी तरह रोज़गार न मिल जाय, मशीनीकरण से बिलकुल बचना चाहिए। रहने के मकान या कार्यालयों के लिए इमारतें, सड़कें, पुल, रेलवे लाइन, सिंचाई के बांध व तालाब आदि बनाने में मशीनों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इसलिए पूर्व-रचित (प्री-फ़ैब्र) मकानों की फ़ैक्ट्रियों और ज़मीन की खुदाई करने वाली या मिट्टी हटाने वाली बड़ी मशीनों को बिलकुल खत्म करना होगा। कम्प्यूटरों, स्वचालित धुलाई की मशीनों, स्वचालित टेलीफ़ूनों, मशीन से चलने वाले रोटी बनाने के कारखानों को, जिन्हें कांग्रेस शासन ने देश-भर में लगाया था, भी नहीं चलने दिया जायगा। उनकी जगह पुराने तरीक़े इस्तेमाल किये जायेंगे जिनसे ज़्यादा लोगों को काम मिलता था। जहां तक कृषि का सम्बन्ध है, केवल छोटी मशीनों को इस्तेमाल किया जायगा जैसी जापान में चलती हैं और जो मानव श्रम की सहायक होंगी, न कि जो उसका स्थान ले लें।

भारत जैसे देश में जहाँ बेरोजगारी इतनी व्यापक है, आर्थिक दृष्टि से यह लाभदायक है कि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उत्पादकता व रोज़गार को एक साथ बढ़ाया जाय (अर्थात् प्रति श्रमिक उत्पादकता बढ़ायी जाय), न कि बिना रोज़गार बढ़ाये ही उत्पादकता बढ़ा दी जाय। इसलिए अर्थव्यवस्था के मशीनीकरण को उस समय तक हतोत्साहित किया जाय जब तक कि वे सभी लोग जो आज बेरोज़गार हैं, पूरी तरह काम से न लग जायें। जब तक पूरे रोज़गार की स्थिति न आ जाय तब तक जहाँ कहीं हमारे सामने यह सवाल आये कि हम या तो अधिक श्रमिकों को लगाने वाली तकनीकों को पसन्द कर सकते हैं या कम मज़दूरों को लगाने वाली को, लेकिन उत्पादन दोनों से बराबर होता हो, तो हम पहली को पसन्द करेंगे सिवाय ऐसे अपवादों के जहाँ कि राष्ट्रीय हितों का प्रश्न हो।

11

उपसंहार

यदि इस लेखक को जनता पार्टी के आर्थिक दर्शन का वक्तव्य लिखने की ज़िम्मेदारी सौंपी जाय तो वह संक्षेप में निम्न प्रकार से लिखेगा :

मनुष्य केवल रोटी के सहारे जीवित नहीं रहता। उसके लिए स्वतन्त्रता व समानता उतनी ही आवश्यक है जितनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति। इसलिए जनता पार्टी ऐसी अर्थव्यवस्था बनाने के लिए वचनबद्ध है जिसमें अधिकतम सम्भव मात्रा में मनुष्य की तीनों आवश्यकताएँ—रोटी, स्वतन्त्रता, समानता—पूरी हो सकें।

मानव इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा हुआ है जिनसे पता चलता है कि स्वतन्त्रता का शुद्ध रूप और समता का शुद्ध रूप एक-दूसरे के सदा से कटिबद्ध शत्रु हैं—जहाँ एक का बोलबाला होता है, दूसरे का खात्मा। मनुष्यों को स्वतन्त्र छोड़ देने से उनकी स्वाभाविक असमानताएँ दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ जाती हैं। उनको एक-समान बनाने का प्रयत्न करने पर वे परतन्त्र बन जाते हैं। इस वजह से भारत के लिए आवश्यक है कि दो अति उग्र मार्गों का—अर्थात उस पूँजीवादी जनतंत्र के मार्ग का जिसका प्रादुर्भाव पश्चिमी देशों में हुआ, तथा जनतंत्रीय केन्द्रीयता के मार्ग का जिस पर कम्युनिस्ट राज्य चल रहे हैं—एक विकल्प निकाले।

जनता पार्टी का विश्वास है कि दोनों के बीच के मार्ग पर चलकर ऐसा समाज बनाना चाहिए जिसमें हर मनुष्य ऐसा धन्धा करे जिसका वह स्वयं मालिक हो। व्यावहारिक योग्यताओं में हर व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है, यह जानते हुए भी जनता पार्टी ऐसे समतावादी समाज में विश्वास करती है जिसमें आयों में अन्तर बहुत कम हो और कुछ अपवादों को छोड़कर नागरिकों

को स्वतन्त्रता हो कि वे अपने लिए कोई भी आर्थिक जीवन चुनें और कसे भी अपना आर्थिक जीवन चलायें।

जनता पार्टी हर ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध हैं जिसमें किसी व्यक्ति को दूसरों की आर्थिक आवश्यकताओं का शोषण करने की असीम स्वतन्त्रता हो। साथ ही जनता पार्टी इसके भी खिलाफ़ है कि राज्य द्वारा लोगों की पेशक़दमी को रोकने, आर्थिक स्वतन्त्रता प्रतिबन्धित करने अथवा आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन करने के लिए असीम शक्ति राज्य अपने हाथों में ले और राज्य की इजारेदारी कायम की जाय। दूसरे शब्दों में, छोटे आदमी का मित्र अथवा सेवक होने तथा पीड़ितों का उत्थान करने के साथ-साथ जनता पार्टी किसी ऐसी व्यवस्था में विश्वास नहीं करती जिसमें मानव को उसकी गरिमा व स्वतन्त्रता से वंचित किया जाय। साथ ही, उद्यम की स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हुए जनता पार्टी किसी ऐसी व्यवस्था में भी विश्वास नहीं रखती जिसमें दूसरों की मेहनत का शोषण किया जाय।

जनता पार्टी विश्वास करती है कि सम्पत्ति व उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का अधिकतम बिखराव अथवा विसर्जन ही जनतन्त्र के संरक्षण व स्थायित्व का एक मात्र आश्वासन है। इसलिए जनता पार्टी आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के हर रूप की विरोधी है। केन्द्रीकरण चाहे कुछ पूंजीपतियों के हाथों में हो चाहे स्वयं राज्य के हाथों में, उससे एक तो स्वतन्त्रता पर बन्धन लगते हैं और दूसरे आयों के स्तरों में अनुचित असमानताएं आ जाती हैं—और यह दोनों सामाजिक व आर्थिक तनाव पैदा करती है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनता पार्टी आर्थिक शक्ति के वर्तमान धारणों व भावी अधिग्रहणों पर जहां सम्भव हो रोक लगायेगी, या उनकी अधिकतम वस्तुपरक सीमा निर्धारित करेगी, या आयों पर विभेदक कर लगायेगी, या और कोई आवश्यक क़दम उठायेगी ताकि असमानताएं कम-से-कम हो सकें। यह इसलिए भी किया जायगा कि आर्थिक प्रचालन, विशेष रूप से औद्योगिक उत्पादन की तकनीकों, उसके उपायों को व उसके आकार को विनियमित किया जा सके तथा निर्धारित किया जा सके। आज फैली हुई इजारेदारी व आयों की असमानताओं को फिर से उभरने से रोकने के लिए ऐसा करना जरूरी है। उत्पादन की तकनीक विशेष से न केवल विशिष्ट आयों की उत्पत्ति होती हैं बल्कि उन आयों का वितरण भी विशेष ढंग से होता है।

यह संक्षेप में है पार्टी की आर्थिक विचारधारा, उसका आर्थिक दर्शन। सवाल यह है कि इस विचारधारा अथवा दर्शन को कार्यान्वित कैसे किया जाता है। देश के सामने आर्थिक क्षेत्र में जो तीन समस्याएं हैं अथवा जो तीन बीमारियां देश को सता रही हैं, उनको पहचाना जा सकता है। वे हैं—ग़रीबी,

बढ़ती हुई बेरोजगारी और सम्पत्तियों व आयों में बढ़ती हुई असमानताएं।

इसलिए हमारी आर्थिक नीति का उद्देश्य ऐसी संरचना का निर्माण होना चाहिए जिसमें उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ रोज़गार मिलें, और यदि पूरी तरह से आय की असमानताओं का उन्मूलन न हो सके तो उनमें कमी अवश्य हो। क्योंकि सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन एक-दूसरे से गुंथा हुआ है, इसलिए हमें ऐसी अर्थव्यवस्था पसन्द होनी चाहिए जो अधिकतम रोटी, स्वतन्त्रता व समानता का आश्वासन देने के साथ ही उन शक्तियों को भी जन्म दे जो जनतन्त्रीय जीवन-पद्धति को आगे बढ़ायें व सशक्त बनायें। हमने अपने लिए जनतंत्रीय जीवन-पद्धति को ही चुना है।

उपर्युक्त विश्वासों को कार्यान्वित करने में किसी भी राजनीतिक दल को, जनता पार्टी को भी, देश की कारक-निधि को ध्यान में रखना होगा। यह निधि ऐसी आर्थिक संरचना को सहारा दे सकती है जिसमें उत्पादन को सीमित करने वाले कारक की प्रति इकाई से अधिकतम उत्पादन लिया जा सके। इसलिए यदि भूमि वह कारक है जो उत्पादन को सीमित बनाये तो उद्देश्य प्रति एकड़ अधिकतम मुनाफ़ा होना चाहिए। यदि श्रम वह कारक हो जो धन्धे को सीमित करे तो श्रम की प्रति इकाई अधिकतम लाभ हमारा उद्देश्य होना चाहिए। इसी प्रकार यदि पूंजी वह कारक हो जो उत्पादन को सीमित करती हो तो हमारा उद्देश्य होना चाहिए कि निश्चित पूंजी-लागत की हर इकाई पर अधिकतम मुनाफ़ा मिले।

जनता पार्टी ऐसी अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहेगी जिसमें :

(क) (i) क्योंकि हमारी परिस्थितियों में भूमि ही वह मुख्य कारक है जो उत्पादन को सीमित करती है और इस कारण श्रम या पूंजी से अधिक मूल्यवान है—इसलिए कृषि के क्षेत्र में भूमि के प्रति इकाई उत्पादन में वृद्धि हो सके; (ii) क्योंकि उद्योग के क्षेत्र में पूंजी का तुलनात्मक अभाव है और इस कारण वह श्रम से अधिक मूल्यवान है, इसलिए पूंजी की हर इकाई से अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके।

(ख) कृषि में भूमि की प्रति इकाई और उद्योग में पूंजी-लागत की प्रति इकाई अधिकतम रोज़गार मिल सके क्योंकि बहुत अधिक जनसंख्या हमारे यहाँ है और बेरोज़गारी बराबर बढ़ रही है।

(ग) आमदनियों की असमानता को कम किया जा सके क्योंकि असमानताओं के बने रहने से व बढ़ते जाने से सामाजिक व राजनीतिक तनाव बढ़ते जाते हैं।

(घ) दूसरों के श्रम के शोषण को अधिकतम हद तक रोका जा सके ताकि हमारी आबादी की अधिकतम संख्या को अपने व्यक्तित्व के विकास व व्यक्तिगत हितों की साधना के लिए अवसर मिल सके।

भारत का काम ऐसी व्यवस्था से ही चलेगा जिसमें कृषि के क्षेत्र में सेवा सहकारी संस्थाओं द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए छोटे स्वतन्त्र किसानों के फ़ार्म हों और विनिर्माण उद्योग के क्षेत्र में कुछ अपवादों को छोड़कर (ऐसी परियोजनाओं को छोड़कर जिनको लघु स्तर पर नहीं चलाया जा सकता) मुख्य रूप से कुटीर व लघु उद्यम हों जिनकी सेवा के लिए जरूरत के स्थानों पर सहकारी संस्थाएँ हो। इस तरह की अर्थव्यवस्था में अधिक माल का उत्पादन होगा, अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा, आय की असमानताएँ कम होंगी और जनतंत्रीय जीवन-प्रणाली को बल मिलेगा।

आज हमारी औद्योगिक व्यवस्था मिश्रित है। इसमें दो क्षेत्र शामिल हैं—एक निजी व दूसरा सार्वजनिक। निजी क्षेत्र पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए क्रमिक रूप से बढ़ती हुई दर से भारी कर लगाने की और कर-प्राप्तियों को सीधे ही जरूरतमंदों को हस्तान्तरित करने या ऐसी परियोजनाओं पर जिनसे धनिकों की अपेक्षा ग़रीबों को अधिक लाभ हो, खर्च करने की जरूरत है। लेकिन प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होने और कुल राष्ट्रीय आय का बहुत ही असमान वितरण होने के कारण हमारे यहाँ उन लोगों का दायरा बहुत छोटा है जिन पर कर लगाया जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष करों को उत्तरोत्तर बढ़ाना और बड़े स्तर पर अप्रत्यक्ष कर लगाना बहुत जरूरी है। लेकिन इस प्रकार क्रमिक दर की कर-व्यवस्था उद्यम व पूंजी लगाने को हतोत्साहित करती है। अप्रत्यक्ष कर कुछ ऐसे बाधक होते हैं कि उनका बोझ धनिकों की अपेक्षा ग़रीबों पर ज्यादा पड़ता है और उनको व्यापक स्तर पर लगाने से, जो भारत में किया गया है, सारी अर्थव्यवस्था में उत्पादन की लागत बढ़ जाती है।

सार्वजनिक क्षेत्र मार्क्सवादी समाजवाद (या उसे हम कम्युनिज्म कहें) का प्रतीक है। कम-से-कम हमारे देश में तो उसका कार्य बहुत निराशाजनक रहा है। इस क्षेत्र में कर लगाने का कोई सवाल नहीं, लेकिन उससे किसी प्रकार का ऐसा अतिरिक्त उत्पादन भी नही मिलता जिसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ग़रीबों व अल्प-रोजगार वालों को हस्तान्तरित किया जा सके या ऐसी परियोजनाओं में लगाया जा सके जो उनकी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। सार्वजनिक क्षेत्र किसी और ढंग से भी भारत के लिए उदाहरण नहीं बन सकता—कम्युनिस्ट देशों ने अति-असमानताएं तो खत्म कर दी हैं लेकिन ऐसा करने के लिए उन्होंने बहुत बड़ी क़ीमत इस रूप में अदा की हैं कि व्यक्तिगत आजादी

व पेशक़दमी को ख़त्म कर दिया है।

लेकिन एक और भी रास्ता है जिसका प्रतिपादन गांधी ने किया था। वह रास्ता यह है कि साधारण श्रम-प्रधान तकनीकों के द्वारा छोटे-स्तर व विकेन्द्रित ढंग से उत्पादन ही हमारे औद्योगिक ढाँचे का प्रमुख रूप हो। इस व्यवस्था से राष्ट्रीय आय का आरम्भ में ही इस प्रकार वितरण होता है जिससे श्रमिकों को फ़ायदा हो। यह व्यवस्था इजारेदारियों के लिए बहुत कम गुंजायश छोड़ती है। इसलिए इस व्यवस्था में यह जरूरत ही नहीं होगी कि बाद में राज्य द्वारा आय का पुनर्वितरण किया जाय। जिन तकनीकों से उत्पादन किया जाता है, वही यह तय करती हैं कि विभिन्न लोग किस रूप में उत्पादन-क्रिया में भाग लें और उससे होने वाली आय में उनका हिस्सा कितना हो। श्रम-प्रधान उद्यमों में आय का सबसे बड़ा हिस्सा श्रमिकों को जाता है और पूंजी-प्रधान इकाइयों में पूंजीपति को। और फिर यह तो सभी मानेंगे कि मजदूरी पाने के लिए काम करने से कहीं अच्छा यह है कि व्यक्ति ऐसा धन्धा करे जिसका वह स्वयं मालिक हो। ऐसा धन्धा साधारण श्रम-प्रधान तकनीकों से ही किया जा सकता है। वह रास्ता जिस पर चलने से जनसंख्या का अत्यधिक प्रतिशत धन्धों में लग सके जिनका व्यक्तिगत रूप से श्रमिक ही स्वामी हो, वही उत्पादन के साधनों का मालिक हो और अपनी जीविका के लिए किसी और पर आश्रित न हो, उस रास्ते से कहीं अधिक अच्छा है जिस पर चलने से पहले तो थोड़े-से लोग सम्पत्ति का उत्पादन कर पायें व थोड़े-से हाथों में सम्पत्ति केन्द्रित हो—भले ही इन लोगों के हाथों में राज्य-सत्ता सीमित हो—और फिर बाद में मुनाफ़े या अतिरिक्त बचत को नौकरशाही के माध्यम से वंचित लोगों को विभिन्न रूपों में हस्तान्तरित किये जायें अथवा उनमें बाँटे जायें।

अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में गांधी ने एक योजना सोची थी जिसके अन्तर्गत उद्योगपति समाज के न्यासी (ट्रस्टी) के तौर पर काम करेंगे। उन्होंने यह योजना भारी उद्योग को जीवित रखते हुए उसकी बुराइयों से बचने के लिए सोची थी। इसके बारे में उन्होंने कई बार लिखा और कहा। कदाचित इस योजना की सबसे संक्षिप्त व सबसे स्पष्ट व्याख्या उन्होंने हरिजन के एक अंक में प्रकाशित एक लेख में की थी जिसमें लिखा था कि उद्योगपतियों को "अपने धारणों का संचालन अपने पास रखने दिया जायगा और अपनी योग्यताओं को सम्पत्ति की वृद्धि के लिए इस्तेमाल करने दिया जायगा, लेकिन अपने लिए नहीं, बल्कि राष्ट्र के लिए और इसलिए बिना (दूसरों का) शोषण किये। राज्य यह तय करेगा कि उनको समाज की सेवा करने के लिए कमीशन दिया जाय—यह कमीशन उनकी सेवा के मूल्य के अनुरूप होगा। उनके बच्चे संचालन की ज़िम्मेदारी विरासत के रूप में तभी पायेंगे जब वे उसके लिए अपनी योग्यता सिद्ध

कर देंगे।"

उनका उद्देश्य था उद्योगों के प्रबन्ध व नियंत्रण की ऐसी व्यवस्था करना जिसमें श्रमिकों, उपभोक्ताओं, कच्चा माल देने वालों, आसपास रहने वालों, और आमतौर से सारे समाज के व उद्यमों के भागीदारों के भी—सभी के—हित ध्यान में रहें और मालिकों व प्रबंधकों की विशेषज्ञता का भी लाभ उठाया जा सके व उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्हें प्रेरणा भी मिलती रहे। इस योजना के अन्तर्गत सारा मुनाफ़ा राज्य के पास जायगा और उसे फिर अर्थव्यवस्था में लगा दिया जायगा। भारी उद्योगों में अतिरिक्त लाभ न तो मजदूरों की मिल्कियत है न मालिकों की, बल्कि सारे राष्ट्र की—क्योंकि सारे राष्ट्र की मेहनत से व सूझबूझ से ही भारी उद्योग बनते हैं व चलते हैं। इस रास्ते पर चलने से निजी पूंजीवाद से भी बचा जा सकता है और राज्य की सर्वोच्च सत्ता से भी। गांधी राज्य की सर्वप्रभुता के विरुद्ध थे। उनके विरोध के लिए उचित कारण थे—आज हममें से बहुत-से लोग ऐसा मानने लगे हैं हालांकि जब गांधी जीवित थे तब हमारी समझ में यह बात नहीं आती थी।

लेकिन इस दुनियादारी वाले समाज में यह सम्भव नहीं है कि मालिकों की दानवीरता व उनके राष्ट्रीय कर्तव्य की दुहाई देकर ही उन्हें उद्योगों पर अपना नियंत्रण छोड़ने के लिए राजी किया जा सके। गांधी तो जगद्गुरु थे और अन्तिम सत्य की बात करते थे व इतने ऊँचे आदर्श हमारे सामने रखते थे जिनको कम-से-कम आज तो प्राप्त करना मुश्किल है। फिर भी जनता पार्टी चुने हुए क्षेत्रों में उनके द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप का परीक्षण करना चाहती है।

अनुक्रमणिका

अधिकतम उत्पादन व अधिकतम रोजगार 120
अन्तर्राष्ट्रीय भोजन एवं कृषि संगठन 56 (देखिये एफ़० ए० ओ०)
अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ 99
अप्पू, पी० एस० 32, 35
अमीरों और गरीबों के बीच गहरी खाई 92; पटने के बजाय और भी चौड़ी हो गयी 92
अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड में श्रमशक्ति का अपेक्षाकृत अभाव 24
अमृतकौर, राजकुमारी 114
अरोड़ा, सतीश के० 60
अर्थव्यवस्था चार उद्देश्य 20, 21; अर्थनीति का उद्देश्य 128
अर्थव्यवस्था की बर्बादी 17; कारण कृषि की अपेक्षा उद्योगों पर बल देने का दृष्टिकोण 18
अल्परोजगारी बढ़ी 92
असफलता के कारण 103

आइजनहावर 91
आई० सी० आई० 85, 86
आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय परस्पर विरोधी उद्देश्य 33; यह भ्रामक धारणा 33; विकास विदेशी पूंजी, विदेशी मशीनों, विदेशी प्रौद्योगिकी पर निर्भर 83
आर्थिक संवृद्धि निर्णायक तत्व हैं बचत की दर, पूंजी के संचयन की दर, अर्थ व्यवस्था में निवल लागत की दर 66
आर्थिक क्षेत्र की तीन समस्याएं 133

'इकॅनॉमिक टाइम्स' 85
'इक्विटी शेयर' 81
इण्टरनेशनल चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स 83
इण्डियन ऑक्सिजन लिमिटेड 82
इण्डियन कौंसिल ऑफ़ एग्रीकल्चरल रिसर्च 117
इजारेदारी पैदा हो रही और बढ़ रही है 100; राज्य की 133
इजारेदार घराने पैदा हुए 92; 1947 से सरकारी नीतियां, कारण 114
इलप (देखिये इण्डिस्ट्रयल लाइसेंसिंग पॉलिसी कमेटी रिपोर्ट) 86, 88
'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इण्डिया' 84

उत्पाद व पूँजी का अनुपात 113, 114
उत्पादकता प्रति एकड़ बढ़ेगी, कामगारों की संख्या की आवश्यकता कम होगी 13
उत्पादन के तीन कारक : भूमि, श्रम तथा पूँजी 20
उन्नत प्रौद्योगिकी व्यापक दुष्परिणाम 83; देखिये प्रौद्योगिकी 100; अर्थ-व्यवस्था में बेकारी व असमानता बढ़ाकर सामाजिक क़ीमत वसूल कर रही है 100; वाले उद्योग सरकारी संरक्षण पाकर ही चल रहे हैं 120
उपभोग की श्रेणियों के अनुसार बिजली की खपत 45
उर्वरक फ़ैक्टरी (भड़ौंच) 113

एक नीति-विकल्प 103
एन० डी० पी० (देखिये 'निवल घरेलू उत्पाद') 57
एनुअल सर्वे ऑफ़ इण्डस्ट्रीज 1970 77
'एफ़० ए० ओ०' 56; (देखिये अन्तर्राष्ट्रीय भोजन एवं कृषि संगठन) 117; द्वारा प्रकाशित 'प्रोडक्शन इयर बुक' 117
एल्मेर पैण्डेल 25, 26
ए० सी० सी० 86

ओझा, ए० एन० 84
ओवेन्स एडगर 100, 121

औद्योगिक अभिरचना 63; जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए और रोज़गार के साधन के रूप में आवश्यक 63
औद्योगिक नीति प्रस्ताव (1956) 65; 'समाजवादी ढंग के समाज' के निर्माण का उद्देश्य 65; 'सार्वजनिक क्षेत्र' का विस्तार 65
औद्योगिक विकास कृषि के बिना सम्भव नहीं 12; औद्योगीकरण से कृषि उत्पादकता को सहायता मिलेगी 18; उद्योगों और खदानों में निवेश बढ़ा 40
'औपनिवेशिक रिश्ता' शहरों व देहातों में 125

कम्युनिज़्म, कम्युनिस्ट 22, 33; केरल पश्चिम बंगाल, आन्ध्र प्रदेश व तमिलनाडु में सिर उठाने की वजह 33, 37; कम्युनिस्टों का उद्देश्य कि राज्य देश के आर्थिक जीवन में मज़बूती के साथ मौजूद रहे 51; अन्य उद्देश्य 51; भाग्यवादिता न छोड़ने पर और क़िस्मत से सन्तुष्ट रहने पर कम्युनिज़्म ही एक विकल्प 55; जनतंत्र में जिन आर्थिक अभिप्रेरणाओं का प्रयोग होता है, वहाँ राजनीतिक दबाव का इस्तेमाल होगा 55; कम्युनिस्टों ने किसानों को उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ सामूहिक खेतों में बाँध दिया 69; सोवियत संघ में कम्युनिस्ट अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा नहीं उठा सके 70; चीन के पास साधनों की और भी कमी 70, 73, 132, 135
कस्तूरभाई लालभाई 87; की सुपर फ़ॉस्फेट की परियोजना 89
कांग्रेस भुवनेश्वर अधिवेशन (1964)

72; अवाडी अधिवेशन (1955) 72;* 1971 के चुनाव घोषणा-पत्र में दो टूक घोषणा कि निजी सम्पत्ति का संस्था के रूप में उन्मूलन नहीं होगा 73; भुवनेश्वर में घोषणा कि कम्युनिस्टों व कांग्रेस का चिन्तन एक समान है 73; गांधीनगर (1972) की घोषणा 73; 1971 में लोकसभा के चुनाव घोषणा-पत्र में वायदा 84; के समाजवाद से समाज के उच्चतम वर्ग में अस्थायी समृद्धि 94

कामगार समृद्ध देशों में कृषि को छोड़ कर अन्य रोज़गारों में 13

कार्ल मार्क्स 74

किसान के लिए पूर्वजों का व्यवसाय छोड़ना सरल नहीं 52; रोज़गार के दूसरे दरवाज़े आसानी से नहीं खुलते 53; के पास पूँजी का अभाव 53; भूमि से भावुकतापूर्ण लगाव 53; के लिए खेती एक आत्म-निर्भर धन्धा 53; प्राय: आर्थिक स्थिति सुधारने की आकांक्षा नहीं जागती 53; को ग्रामीण जीवन अभौतिक सन्तोष प्रदान करता है 53

क़ीमतें (कृषि-उत्पाद की) 49; को सहारा देने की नीति भारत में नहीं चल सकती 49; को सहारा देने का अर्थ 49; राजस्व पर बोझा बढ़ जायगा 50; भ्रष्टाचार बढ़ेगा 50; न्यूनतम क़ीमतें निर्धारित करने का नतीजा 50; खेतिहर मज़दूर भूमि से चिपटे रहेंगे 50; कृषीतर विकास में बाधक बनेंगे 50; मतलब होगा कि सरकार खाद्यान्न का व्यापार हाथ में ले ले 50

कृषक की क्रय-शक्ति उपज बेचकर ही सम्भव 12, 13; क्रय-शक्ति के बिना औद्योगिक संवृद्धि सम्भव नहीं 13

कृषि खाद्य के अलावा कुछ कच्चा माल देती है 11; प्रयोजन भूमि का प्रयोग 11; खनिज भी 11; अब खाद्यान्न के साथ कच्चे माल का भी आयात 12, सत्तारूढ़ दल द्वारा उपेक्षा 12; कामगारों से छुटकारे की आवश्यकता 13; उत्पादकता बढ़ना आवश्यक 17; प्रति एकड़ काम करने वालों की संख्या घटाना आवश्यक 17; के विकास से ही औद्योगिक व कृषीतर श्रमिकों को खाद्यान्न व कच्चा माल मिलेगा 18; उत्पादन की कमी के कारण कीमतें बढ़ी हैं, 18; प्राथमिक भूमिका कृषि की है 19; सर्व-प्रमुखता प्रदान करनी होगी 19; एक जैव प्रक्रिया 28; उत्पाद में आवश्यकता से अधिक श्रम 38; में पूँजी का अभाव 39; में बहुत कम सार्वजनिक परिव्यय 39; बहुत कम अभिप्रेरणाएँ 39; जान-बूझकर पूँजी से वंचित रखा गया 39; उत्पाद की क़ीमतें 46; की पैदावार को माँग के अनुसार नहीं घटाया-बढ़ाया जा सकता 49; के अधिक उत्पादन से उत्पन्न द्विविधा के समाधान 51, 52; के उत्पादन के साथ लोगों की सामाजिक-आर्थिक मनोवृत्ति बदलेगी 54; की उपेक्षा का कारण शहरी शासक वर्ग 59; की उपेक्षा मूल अपराध 104; कृषीतर रोज़गार के साधन बनाने व बढ़ाने

के लिए कृषि का उत्पादन बढ़ाना जरूरी 116
कृषि-आयोग 112
'कृषि क़ीमत आयोग' 46
कृषि व उद्योग एक-दूसरे के पूरक 17; प्राथमिकता किसे दी जाय 17; दोनों एक-दूसरे के विकास के लिए कारण-कारक हैं 19
कृषि व कृषीतर आयों में अन्तर 53; कृषीतर क्षेत्र में रोजगार के लिए परिवहन और संचार 126—सड़कों का निर्माण 126; रेलवे की लाइनें बनाना—सिंचाई तथा जल-विद्युत के लिए तालाब व बांध बनाना 127
कृषि संगणना (1970-71) की रिपोर्ट 32, 34
क्रमसूचक समूहों की व्यक्तिगत आय के प्रतिशत भाग की तालिका 96
किलिक्स एंड कंपनी 87
किर्लोस्कर 36वें स्थान से 15वां रुतबा 85, 87
कुटीर, लघु-स्तर व बड़े स्तर के उद्योगों में श्रम, पूंजी व उत्पाद सम्बन्धी तालिका 109
केन्द्रीकरण का परिमाण 85
कैसे उद्योगों में कितनी पूंजी लगी 109

खादी व ग्रामोद्योग उप-विभाग 110
खाद्य निर्यात राजनीतिक अस्त्र के तौर पर इस्तेमाल होगा 19
खाद्य-पदार्थों का आयात अब तक 6,000 करोड़ रुपयों का खर्च 104
खेत के आकार का उत्पादकता से कोई संबंध नहीं 24; खेत बड़ा होता जाता है, प्रति एकड़ उत्पादकता घटती जाती है 24; न्यूनतम जितना कि स्वयं प्रबन्ध कर सके 20; प्रत्येक इकाई की उत्पादन-क्षमता के आधार पर 30; अधिकतम 27.5 एकड़ 31
खेतिहर अपनी छोटी-छोटी जोतों के मालिक हों 21; को बेदखल किये जाने की चिन्ता न सताये 21; स्वामित्व प्रदान करना आवश्यक 21; स्थायी अधिकार मिलें 21; स्वयं भूमि का मालिक हो—यही जनतन्त्र का आधार 27, 28; खेतिहर मजदूरों की संख्या अधिक 34; फ़ालतू खेतिहरों को हटा दिया जाय 38; या उनकी बदली कृषीतर उद्यमों में कर दी जाय 38; को अभिप्रेरणा देने में भी असफलता 46; मजदूर जनसंख्या का 70 प्रतिशत 49; जैसा कि विकसित देशों में हुआ है, खेतिहर मजदूर कृषीतर धन्धों में लग जाएं 52; खेतिहरों की संख्या में तुलनात्मक कमी आवश्यक 55
खेती का क्षेत्र बढ़ाने से उत्पादन नहीं बढ़ता 29; में बड़ी मशीनों के प्रयोग के लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए 118
खेतों के स्वामित्व को साझे की खेती में बदलने का खेतिहरों द्वारा विरोध 36; उत्पादन नहीं बढ़ता, बेरोज़गारी नहीं घटती 36; जनतन्त्रीय व्यवहार सुदृढ़ नहीं होता 36; स्वतन्त्र रहे, सहकारिता के सिद्धान्त पर इन स्वतन्त्र हस्तियों की एक कड़ी बने 37; आर्थिक अराजकता से और

थोपी गयी सामूहिकता से बचा जा सके 37

ग़रीबी इतनी कि बाजार भाव पर भोजन पदार्थ नहीं ख़रीद सकते 51
गहन खेती 117
गांधी, इन्दिरा के दस-वर्षीय शासन-काल में 10 व्यावसायिक घरानों की परिसम्पत्ति में 120 प्रतिशत वृद्धि 84; का आपातस्थिति में व्यावसायिक घरानों द्वारा साथ 91
गांधी, महात्मा 63; कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन 63; पूंजी-प्रधान उद्योग नहीं चाहते थे 64; चर्खा उनके लिए कुटीर उद्योगों का प्रतीक 64; छोटी इकाइयों द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन पर जोर 64; ऐसे औद्योगीकरण के विपक्ष में जिससे गांव-गांव की दस्तकारी बरबाद हो 64; स्पष्ट मत कि उन्हीं बड़े-बड़े उद्योगों में स्वामित्व लेना चाहिए जो बिलकुल ज़रूरी हों 73; द्वारा स्वराज्य का अर्थ 73; द्वारा प्रस्तावित अर्थव्यवस्था में नियोजन की प्रक्रिया नीचे से आरम्भ होकर ऊपर तक चली जाती है 74; की सलाह के विपरीत हमारे नेता आधुनिक क्षेत्र के मोह में फंसे 99; का मार्ग छोड़कर, केन्द्रीकरण की नीति अपनाकर बड़ी ग़लती की 103; 'आख़िरी आदमी' की फ़िक्र 107; उद्योग के प्रति उनके दृष्टिकोण का औचित्य 107, 108, 114; का स्वप्न 125, 128, 129, 130, 136; के ट्रस्टीशिप सम्बन्धी विचार 136, 137
गांवों में पीने का साफ़ पानी नहीं 58; बिजली नहीं 58; कृषि व उद्योगों में दी गयी बिजली के दरों की तुलना 58
ग़ैर-कृषि साधनों का विकास समस्या का अन्तिम हल 35; बेरोजगार और अल्प-रोजगार वाले कुटीर उद्योगों की तरफ़ आकर्षित हों 35
गोयनका 87, 91

घरेलू मण्डी छोटे व कुटीर उद्योगों के लिए ही सुरक्षित रहेगी 120

चकबन्दी 35; जोतों की 35, 36
चह्वाण, वाई० बी० 83
चीन में जैव-उर्वरकों का इस्तेमाल 19; के फ़ार्मों के अध्ययन के आंकड़े 25, 27, 104, 129

छोटी-छोटी जोतें मालिक काम की तलाश में नये औद्योगिक क्षेत्रों की ओर प्रवास करेंगे 13; कृषीतर रोजगारों में लगे 13; श्रमिक खेती से हटकर कृषीतर धन्धों में लगे 17; के अनुरूप कृषि में उपयोग आने वाली मशीनों में हेरफेर आवश्यक 28; में अधिक पैदावार 107

जनतन्त्र स्वतन्त्र आर्थिक कार्यों के सीमित होने से सीमित 125
जनता पार्टी 132, 133, 134
जमींदारी-व्यवस्था पूर्ण रूप से उन्मूलन आवश्यक 21

जानलोसिंग वक 25
जापान 83, 104, 130
जी० एन० पी० (देखिये सकल राष्ट्रीय उत्पाद) 98
जीवन-बीमा-निगम 93; प्रथम व तीसरे वर्ग के कर्मचारियों के समान वेतन सीमा पर मिलने वाले महँगाई भत्ते के हिसाब में मिलने वाली रक़म की तुलना 93, 94
जैव उर्वरक अजैव उर्वरकों से कहीं ज्यादा अच्छे होते हैं 19
जोतों की हदबन्दी 32

'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' (नई दिल्ली) 119, 123
टाटा 1966 में 70 कम्पनियां अधिकार में थीं 84, 86; छह लाइसेंसों पर तीन से छह वर्ष तक काम शुरू नहीं किया 90
टैक्सामेको, कलकत्ता 82

ताइवान 111
त्रिवेदी, आर० के० 60 टिप्पणियां

थापर 1966 में 59 कम्पनियां अधिकार में थीं 84, 86

दत्त कमेटी 85
'द लॉ ऑफ़ डिमिनिशिंग रिटर्न्स' 24
दशमक समूहों की एशियाई देशों में व अमेरिका में भारत की तुलना में पारिवारिक आय के भाग की तालिका 97
देश-विकास के दो नुस्खे प्रति एकड़ कृषि-उत्पादकता बढ़े, दूसरे प्रति एकड़ काम करने वालों की संख्या घटे 17
दोहरी अर्थव्यवस्था 95; दरिद्रता के विशाल महासागर में खुशहाली के कुछ टापू 93

नर्सके, रेंजर 70
नाइट्रोटेलोयूम 82
निजी क्षेत्र व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण 84; कांग्रेस का 1971 में वायदा कि आर्थिक सत्ता व सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण नहीं होगा 84
निवल घरेलू उत्पाद की प्रवृत्तियां, कृषि व अन्य की तुलना 57
निष्कर्ष 128
नेताशाही का विश्वास औद्योगिक विकास कृषि के विकास से पहले सम्भव 12; नेता और उद्योगपतियों का दबाव—उद्योगों पर बल दिया जाय 18; जनतन्त्र तथा रूसी क्रांति के उद्देश्यों से एक साथ प्रभावित 72; नेताशाही भारी उद्योग के मोह में फंस गयी 104
नेहरू का औद्योगीकरण व कृषीतर साधनों के विकास में विश्वास 17; ग़लती कि सोवियत संघ की नक़ल में पहले भारी उद्योगों के विकास की नीति अपनायी 17; ने विदेशी अर्थशास्त्रियों द्वारा सुझायी उद्योगों पर आधारित नीति स्वीकारी 62; शहरी माहौल व पश्चिमी शिक्षा की देन थे 62, 63; गांधीजी के विचारों के

विपरीत उद्योगों के विकास के पक्ष में विचार 64, 65; चंडीगढ़ में (1959 में) अखिल भारतीय कांग्रेस में दिये गये भाषण में विचार और भी स्पष्टता से व्यक्त 65; का विदेशी सहायता में विश्वास 70; औद्योगिक अभिरचना की स्थापना पर तुले हुए थे 71; उद्योग के मूर्ति-पूजक 80; द्वारा सदा उन्नत प्रौद्योगिकी की चर्चा 83; का भारी प्रौद्योगिकी पर अन्धविश्वास 95; समझते थे कि भारी पूँजी-प्रधान उद्योग से उत्पादन व सकल राष्ट्रीय उत्पाद बढ़ता है 98; राष्ट्रीय आय बढ़ाने को योजना का सबसे बड़ा उद्देश्य मानते थे 98; देश को काफ़ी हानि पहुंचने के बाद समझे कि महात्मा गांधी सही कहते थे 100; नेहरूवादी नीति के स्थान पर गांधीवादी दृष्टिकोण अपनाना होगा 103; भारी मशीन निर्माण उद्योग के बारे में टिप्पणी 105; बहुत देर से अपनी ग़लती को समझा 115

'प्योर ड्रिंक्स' लाइसेंस एक दिन के अन्दर जारी किया गया 89

प्रतिद्वन्द्वियों के लिए दरवाज़े बन्द करना 89

पूँजी दो स्रोत : बचत व कर 67; बचत आसान नहीं 67; अधिकांश व्यय खाद्य पदार्थ पर 67; अधिक जनसंख्या तथा मानवीय कमियों की वजह से बचत कम 68; उद्योगों में लगाने के लिए नहीं है 69; व स्टाक और मुनाफ़ लगातार बढ़े 92

पूँजीवाद उत्पादन बढ़ाने में कम्युनिज़्म से अधिक दक्ष 70

पूँजीवादी जनतन्त्र तथा जनतन्त्रीय केन्द्रीयता 132

पूँजी-प्रधान उद्योग अनुकूल परिस्थितियां अविद्यमान 66; ने दोहरी अर्थव्यवस्था खड़ी कर दी है 92; में श्रमिकों की कम आवश्यकता 93; से मुनाफ़े बढ़ जाते हैं, सम्पत्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है 98; को हाथ में न लिया जाय जिसका श्रम-प्रधान विकल्प सम्भव है 116; अंग्रेजों के ज़माने से ही लग रहे हैं 120

पैरी 85, 88

फ़ार्म का आकार कम-से-कम 2.6 एकड़ 31;

फे, डॉ० सी० आर० 37

'फ़ोरम ऑफ़ फ़ाइनेन्शियल राइटर्स 100, 121

बंगाल दुर्भिक्ष 11

बजाज 87

बड़े व्यवसाय ने ही जर्मनी व जापान में जनतन्त्र को बर्बाद किया 91; ट्रक ड्राइवर का वेतन कॉलेज लेक्चरार से ज्यादा 93; बड़े उद्योगों से बेरोज़गारी व अल्प-रोज़गारी बढ़ी 95

बड़े स्तरीय व छोटे स्तरीय कारखानों की तुलना 110

बांगड़ 1966 में 93 कम्पनियां अधिकार में थी 86; की वायर प्रोडक्ट्स परियोजना 89

बिड़ला 84; 1966 में 290 कम्पनियां

अधीन थीं 84, 86; की एल्यूमिनियम योजना 89; की रेयोन की परियोजना 89, 90
बर्ड हाइलजर्स 87
बिन्नी 87; (देखिये मैकनील बेरी)
बी० एच० ई० एल० (भेल) त्रिची 82
बुद्धिजीवी उद्योगों को प्राथमिकता देते हैं 18
बुलेश्कर, अशोक वी० 127 फुटनोट
बेरोज़गारी बढ़ी 92; उन्मूलन के उपाय 115, 116

भट्ट, आर० एस० 80
भानुप्रताप सिंह के सुझाव 47
भारत व पन्द्रह अन्य देशों के श्रमिकबल की तुलना 14, 15, 16
भारत सरकार का केन्द्रीय आँकड़ा संगठन 56 (देखिये सी० एस० ओ०)
भारी उद्योग भारत की अत्यधिक जनसंख्या को रोज़गार नहीं दे सकते 69, 70
भुखमरी की सीमा-रेखा पर पैंतीस करोड़ व्यक्ति 112
भूमि सीमित है 24; के बंटवारे में अधिकाधिक समानता 33; संरक्षण पर मामूली-सी रक़म खर्च 40; संरक्षण पर चार योजनाओं में व्यय 44, 54
भूमि-पुनर्वितरण 32, 33, 34, 35; रोग की वास्तविक चिकित्सा नहीं 35, 54
भूमि-सुधार का अर्थ सहकारी खेती नहीं 28
भूमि-हस्तान्तरण व विभाजन सम्बन्धी क़ानून संशोधन की आवश्यकता 32

मइक (देखिये मोनोपलीज़ इन्क्वायरी कमेटी) 86, 88
मज़दूर सभाएँ श्रम को महँगा बना देती हैं 123; मज़दूर आन्दोलन को सीमा में रखा जाय 123; सस्ती मज़दूरी ही बड़ी सम्पत्ति है 123; सभाओं की रोकथाम कर सकना सम्भव नहीं 124
मफ़तलाल 1966 में 34 कम्पनियाँ अधिकार में थीं 84; 16वें से कूदकर तीसरा रुतबा 85, 86
महालनोबीस, प्रो० 109
महिन्द्रा 88
माओ त्से-तुंग 62; ने कृषि को प्राथमिकता दी 70; विकेन्द्रित श्रम-प्रधान उद्यमों पर भरोसा किया 70, 129
मार्क्सवादी साहित्य बड़े-बड़े फ़ार्मों के लाभ दिखावटी 28
मार्टिन बर्न 86
माल व सेवाओं का अभाव 116; जिन्हें कुटीर व लघु उद्योग पैदा कर सकते हैं, उन्हें बड़े या मँझोले स्तर के उद्यम को इजाज़त नहीं दी जायगी 119; आज जो मिलें व कारखाने ऐसा माल बना रहे हैं जो छोटे व कुटीर उद्योग बना सकते हैं, उनका निर्यात करें 119, 120
मिर्डल, गुन्नार 125
मिश्रित अर्थव्यवस्था 72
मूल्य नियंत्रण तभी सम्भव जब कि माल की पूर्ति पर भी नियंत्रण हो

51; इसके लिए आवश्यक हो जायगा कि सरकार खाद्यान्न का उत्पादन अपने हाथों में ले 51
मैकनील बेरी 87; (देखिये बिन्नी)
मैडीसन, एंगस 29
मैनेजरों, इंजीनियरों को अधिक वेतन 93
मोदी 87
मौसम की अनिश्चितता 49

योजना आयोग की रिपोर्ट कि अपेक्षित राजनीतिक इच्छा के अभाव में भूमि-सुधार में प्रगति असम्भव 35; दूसरी योजना के बाद निवेश के परिरूप में कोई परिवर्तन नहीं 40; हमारी योजनाओं से दूसरे देशों में लोगों को रोज़गार मिला 129

रकह (देखिये आर० के० हज़ारी की रिपोर्ट) 86, 88
रहन-सहन का स्तर दो दायरों की सीमा में सम्भव 104
राज, डॉ० के० एन० 101; द्वारा बड़े उद्योगों के लाभ की कुटीर व लघु-उद्योगों की अपेक्षा तुलनात्मक तालिका 101
राव, डी० एन० 60 टिप्पणियाँ
राष्ट्रीय आय अमेरिका के 20 प्रतिशत चोटी के लोगों की आय में गिरावट आयी 95; श्रीलंका में भी 95; भारत में बढ़ी 95; का बढ़ाना नेहरू की दृष्टि में योजना का सबसे बड़ा उद्देश्य 98
राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट 44
रोज़गार अपर्याप्त अवसर 33; का संकट हुआ तो नेहरू के सलाहकार अर्थशास्त्री यथापूर्व और पूंजी लगाने के पक्ष में 99; के लिए अवसर पैदा करने के लिए तीन मुख्य क्षेत्र 116
रोज़गारों का विविधीकरण अन्ततः मनोवृत्ति का प्रश्न 54

लातीनी अमेरिका 100
लार्सन टोब्रो 87
लेविस, आर्थर 70
'लेवी' 50
लैडजिन्स्की, डब्लू० ए० 21, 22, 34
लोकनाथन, डॉ० पी० सी० 108

व्यावसायिक घराने 84; के आकार व उनकी निबल परिसंपत्तियों में 1951 से 1975 तक बहुत वृद्धि 85; 1973 तक की इनकी वृद्धि की तालिका 86, 87, 88; जितने लाइसेंस जारी हुए 20 प्रतिशत इन्हें मिले 89; उनकी लागत 41 प्रतिशत थी 89; ने स्वदेशी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया 90; इनमें लगी 60 प्रतिशत पूंजी आयातित 90; परियोजना लागत का लगभग 50 प्रतिशत सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त 91
वर्ल्ड बैंक एटलस (1975) 68
वालचन्द 87
विकास की पूंजी-लागत विभिन्न देशों की तुलनात्मक तालिका 122
विदेशी ऋण व सहयोग 78; विदेशी सहायता, अनुदानों, क़र्ज़ों व सर्विस

चाजों के हिस्से और प्राप्त वास्तविक सहायता की तालिका 79
विदेशी कम्पनियां किन विभिन्न रूपों में बाहर रुपया भेजती हैं 82; इन रूपों की तालिका 82; द्वारा लूट में देश के नेता भी साझेदार 82; भारतीय व्यवसाय का महत्त्वपूर्ण अंग 85; पिछले दस वर्षों में परिसंपत्ति में 135 प्रतिशत की वृद्धि 85
विदेशी पूंजी 81; विभिन्न देशों से भारत में लगी की तुलनात्मक तालिका 81; व प्रौद्योगिकी को छोड़कर आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ें 103
विदेशी प्रौद्योगिकी न केवल विदेशी सहायता बल्कि विदेशी प्रौद्योगिकी का भी आश्रय 83; हमारी अर्थव्यवस्था पर थोप दी गयी 128; देश में एक सशक्त वर्ग के हित इसके आयात के पक्ष में 129
विदेशी सहायता यह दलील कि प्रचुर विकास के लिए विशाल विदेशी सहायता की जरूरत 70; भारतीय वित्तीय संसाधनों का विदेशियों द्वारा लूटे जाने का दूसरा नाम 80
विश्व बैंक की रिपोर्ट में प्रस्तावित चार क़दम 23
विशेष पक्षपात 85
वीरेन शाह 91
वेतनों की तुलना 93; की अनियमितता 124

शहरों व गांवों के बीच की खाई 1947 के बाद चौड़ी हुई है 56
शासक-वर्ग में गांवों के लोगों का अनुपात 59, 60, 61
शिक्षा आर्थिक विकास का कारक 58
शोषण के लिए उपनिवेशों और मंडियों का अभाव 69
श्रीराम 1966 में 47 कम्पनियां हाथ में थीं 84, 86; की कैल्शियम कारबाइड योजना 89

संसद की सार्वजनिक संस्थान समिति 82; का निष्कर्ष कि भारतीय प्रौद्योगिकी उपलब्ध होने पर भी सार्वजनिक संस्थान उसका आयात करते रहे हैं 82
सकल राष्ट्रीय उत्पाद (देखिये जी० एन० पी०) 98, 120
सड़कों का निर्माण 126
सफ़ेदपोश मजदूर विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग 94
सम्पत्ति का केन्द्रीकरण 92
'समता-क़ीमत' 47, 48
समस्या का हल गांधी व नेहरू की नीतियों के उपयोगी समन्वय में 103
समाजवाद का अर्थ : ऊपर से नीचे तक नियोजन; इससे स्वतन्त्रता की जड़ें खोखली हो जाती हैं 74; और सार्वजनिक क्षेत्र एक ही बात 75
समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था 72
सरकारी नौकरों के वेतन 94
सहकारिता 28; साझे की खेती में अभिप्रेरण दुर्बल हो जाता है 29; आर्थिक साझेदारी सुचारु रूप से नहीं चल सकती 30; का अर्थ 36; का उद्देश्य 36; का विस्तार 36;

तथा विलयन में भेद 37; का आन्दोलन सरकारी महकमे की तरह नहीं चलाया जाता 37; की जड़ें जमने में कई दशक लगेंगे 37
स्वामीनाथन, एम० एस० 117
स्विलमैन, डब्लू० जे० 23
साराभाई 87
सार्वजनिक क्षेत्र में योजना-व्यय : 1951-52 से 75-76 तक 41, 42, 43; के निवेशों से कृषि निजी क्षेत्र महत्त्वपूर्ण 46, 74; का अर्थ समाजवाद जिसका उद्देश्य है निजी संपत्ति का उन्मूलन 75; अमीरों और ग़रीबों के दरम्यान फ़र्क बढ़ा है 75; 139
सार्वजनिक संस्थान केन्द्रीय सरकार के अधीन 75; में लगी पूँजी के विस्तार की तालिका 76; दिखायी गयी लागत का बहुत बड़ा अंश, 20 से 40 प्रतिशत तक, रिश्वत के ज़रिये निजी आय में बदल जाता है 77; एक भाग बेकार पड़ी क्षमता के रूप में गतिहीन हो जाता है 77
साल में एक ही फ़सल 117
साहू जैन 1966 में 29 कम्पनियाँ अधिकार में थीं 84, 87
सिंघानिया, जे० के० 87
सिंधिया 87
सी० एस० ओ० 56 (देखिये भारत सरकार का केन्द्रीय आँकड़ा संगठन)
सीयर्स, प्रोफ़ेसर डडले 99, 114, 121, 123
सूती कपड़ा मिलें 113
सूती बुनाई उद्योग में पूँजी व उत्पाद 108
सुन्दरम अयंगार, टी० वी० 87
सुब्रह्मण्यम, वी० 61
सूरजमल नागरमल 1966 में 104 कम्पनियाँ अधिकार में थीं 84; छठे से गिरकर 11वाँ रुतबा हो गया 85, 87
सेवा सहकारिता 35

हज़ारी, आर० के० 85, 88
ह्रासमान प्रतिफल 25; नियम के उदाहरण 26, 27, 31
हिन्दालको 58
हिन्दुस्तान आर्गेनिक केमिकल्स 82
हिन्दुस्तान हाउसिंग फ़ैक्ट्री 127
हैवी प्लेट एण्ड वैसिल्स, विशाखापट्टनम 82